https://AtmaDharma.com & https://AtmaDharma.org

श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव विरचित

द्रव्यसंग्रह

(पद्यानुवाद, सुबोधिनी टीका और भावार्थ सहित)

गाथा पद्यानुवाद :

डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल

गुजराती टीकाकार :

श्री रामजीभाई माणेकचन्द दोशी, एडवोकेट

अनुवादक

पण्डित परमेष्ठीदास जैन, न्यायतीर्थ

श्री मगनलाल जैन

प्रकाशक

पंडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

ए-4, बापू नगर, जयपुर (राजस्थान) 302015

फोन : (0141) 2707458, फैक्स : (0141) 2704127

E-mail : ptstjaipur@yahoo.com, Website : www.jaintodarmalsmarak.com

https://AtmaDharma.com & https://AtmaDharma.org

प्रथम पाँच संस्करण : 8 हजार

छठा संस्करण : 1 हजार
(दिनांक 18 अप्रैल, 2008,
भगवान महावीर जयंती)

योग : 9 हजार

मूल्य : 12 रुपये

टाइपसैटिंग :
त्रिमूर्ति कम्प्यूटर्स
ए-4 बापूनगर, जयपुर

मुद्रक :
प्रिन्ट 'ओ' लैण्ड
बाईस गोदाम, जयपुर

अनुक्रमणिका

विषय	पृष्ठ संख्या
1. छह द्रव्यों का स्वरूप	03-54
2. नव पदार्थ का वर्णन	55-94
3. मोक्षमार्ग का वर्णन	95-134
4. अर्थसंग्रह	135-147
5. भेदसंग्रह	148-151
6. लघु द्रव्यसंग्रह	152-156

नक्शे और चार्ट

1. प्राण वर्णन	09
2. उपयोग वर्णन	14
3. पुद्गल की पर्यायें	16
4. चौदह जीवसमास	27
5. पर्याप्ति	28
6. द्रव्य	52
7. भावास्रव के भेद	63

प्रकाशकीय

श्री रामजीभाई एडवोकेट द्वारा लिखित टीका सहित श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव द्वारा रचित यह द्रव्यसंग्रह ग्रंथ पाठकों के करकमलों में देते हुए हमें अत्यन्त आनन्द हो रहा है।

इस द्रव्यसंग्रह ग्रन्थ में जैनदर्शन के अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों का निरूपण सरल भाषा में है। धर्म-जिज्ञासुओं को सर्व शास्त्रों के रहस्य को खोलने वाली द्रव्यानुयोग प्रवेशिका के समान पाठ्य-पुस्तकस्वरूप इस ग्रंथ की समाज को बहुत आवश्यकता थी। जैनदर्शन शिक्षण कक्षा में उपयोगी इस ग्रंथ को हिन्दी में प्रकाशित कराने की माँग भी बहुत आ रही थी। अत: ट्रस्ट ने इस द्रव्यसंग्रह ग्रन्थ को प्रकाशित करने का निर्णय लिया।

ग्रन्थ के सुन्दर मुखपृष्ठ की कल्पना, सुन्दर मुद्रण आदि की व्यवस्था श्री अखिलजी बंसल ने संभाली है, टाईपसैटिंग एवं प्रूफ रीडिंग का कार्य श्री श्रुतेशजी सातपुते शास्त्री ने किया है तथा मेरे साधर्मी मित्र श्री सौभाग्यमलजी जैन, जयपुर ने इस कृति की शुद्धता के लिए विशेष कष्ट उठाये हैं एवं श्री पंकज जैन भगवाँ ने उन्हें इस कार्य में सहायता की है। दातारों के आर्थिक सहयोग से पाठकों को कम कीमत में यह प्रकाशन उपलब्ध हो सका है। अत: इन सभी को हम हार्दिक धन्यवाद देते हैं।

धर्म-जिज्ञासुओं में सूक्ष्म दृष्टि से अभ्यास करने की भावना बढ़ रही है, इसलिए आत्मसम्मुख होने की भावना से इस ग्रन्थ का आप अच्छी तरह अभ्यास करें ह्न ऐसी हमारी भावना है।

डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल के पद्यानुवाद का भी पाठक अवश्य लाभ लेंगे ही ह्न इस भावना के साथ विराम लेता हूँ।

ह्न **ब्र. यशपाल जैन,** एम. ए.
प्रकाशन मंत्री
पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर

https://AtmaDharma.com & https://AtmaDharma.org

प्रस्तुत संस्करण की कीमत कम करनेवाले दातारों की सूची

1.	श्रीमती वसन्तीदेवी हरकचन्दजी छाबड़ा, सूरत	2501.00
2.	श्री नरेशकुमार पंकजकुमारजी जैन, दिल्ली	501.00
3.	श्री नेमीचन्दजी पहाड़िया, पीसांगन	301.00
4.	श्री सुनील जैन हजारीलालजी जैन, हस्ते सरोज स्टील, कोचीन	251.00
5.	श्री कैलाशचन्दजी जैन, ठाकुरगंज	251.00
6.	श्री जवरचंदजी जैन, सनावद	251.00
7.	श्री जिनेन्द्रदासजी जैन, धामपुर	250.00
8.	श्रीमती अनिता जैन, धामपुर	250.00
9.	ब्र. हीराबाई, सोनगढ़	250.00
10.	श्री हुलासमलजी कासलीवाल, कोलकाता	250.00
11.	स्व. बाबूलाल तोतारामजी जैन, भुसावल	201.00
12.	श्रीमती कमलादेवी ध. प. महावीरप्रसादजी छाबड़ा, जयपुर	201.00
13.	श्री शान्तिनाथजी सोनाज, अकलूज	201.00
14.	श्रीमती नीलू ध. प. राजेशकुमार मनोहरलालजी काला, इन्दौर	201.00
15.	श्रीमती श्रीकान्ताबाई ध.प. पूनमचन्दजी छाबड़ा, इन्दौर	201.00
16.	श्रीमती अनिलाबेन विजयकुमारजी गांधी, नातेपुते	201.00
17.	श्रीमती रश्मिदेवी वीरेशजी कासलीवाल, सूरत	201.00
18.	श्रीमती रतनबाई ध. प. स्व. केसरीमलजी पाण्ड्या, इन्दौर	150.00
19.	श्रीमती पानादेवी मोहनलालजी सेठी, गोहाटी	101.00
20.	स्व. धापूदेवी ध. प. ताराचंदजी गंगवाल जयपुरवाले की पुण्य स्मृति में	101.00
21.	श्रीमती गुलकन्दाबेन सुन्दरलालजी जैन, हस्ते श्रीचन्दजी जैन देवलाली	101.00
22.	श्री धर्मेन्द्रकुमारजी नवीनकुमारजी जैन, दिल्ली	101.00
23.	श्रीमती पतासीदेवी इन्द्रचन्दजी पाटनी, लाडनूँ	101.00
24.	स्व. नेमीचन्दजी पहाड़िया की पुण्य स्मृति में, गोहाटी	101.00
25.	श्रीमती विमलादेवी ध. प. सुमेरमलजी पहाड़िया, तिनसुकिया	101.00
26.	स्व. सोहनदेवी ध.प. स्व. तनसुखलालजी पाटनी की पुण्य स्मृति में जयपुर	101.00
	कुल राशि	**7,421.00**

।। श्री वीतरागाय नमः ।।

श्री नेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेवविरचित

द्रव्य–संग्रह

मंगलाचरण

जीवमजीवं दव्वं जिणवरवसहेण जेण णिद्दिट्ठं।
देविंदविंदवंदं वंदे तं सव्वदा सिरसा।।१।।

कहे जीव अजीव जिन जिनवरवृषभ ने लोक में।
वे वंद्य सुरपति वृन्द से वंदन करूँ कर जोर मैं।।१।।

अन्वयार्थ ह्न (जेण जिणवरवसहेण) जिन जिनवर ऋषभ भगवान ने **(जीवं अजीवं दव्वं)** जीव और अजीव द्रव्य का **(णिद्दिट्ठं)** वर्णन किया है, **(देविंदविंदवंदं)** देवेन्द्रों के समूह[1] से वन्दनीय **(तं)** उन प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव को मैं [श्री नेमिचंद्र सिद्धान्तिदेव] **(सव्वदा)** सदा **(सिरसा)**नतमस्तक होकर **वंदे ह्न** वन्दना करता हूँ।

भावार्थ ह्न (१) 'जिणवरवसहेण' इस शब्द के दो अर्थ हैं ह्न १. इस काल के प्रथम तीर्थंकर 'श्री ऋषभदेव भगवान ने', २. 'समस्त तीर्थंकर देवों

१. भवनवासी देव के ४०, व्यन्तर देव के ३२, कल्पवासी देव के २४, ज्योतिषी देव १ चन्द्रमा और १ सूर्य तथा मनुष्य से १ चक्रवर्ती तथा तिर्यंच के १ सिंह; इसप्रकार सौ इन्द्र हैं।

https://AtmaDharma.com & https://AtmaDharma.org

ने।' यह इसप्रकार है कि जिन = मिथ्यात्व[१] और रागादि को जीतनेवाले (असंयत सम्यग्दृष्टि, श्रावक और मुनि को 'जिन' कहा जा सकता है।)

जिनवर = जो 'जिनों में श्रेष्ठ होते हैं, वे 'जिनवर' हैं, श्री गणधर देव भी 'जिनवर' कहे जाते हैं।

जिनवर वृषभ = जो जिनवरों में भी श्रेष्ठ होते हैं, वे 'जिनवरवृषभ' हैं। प्रत्येक तीर्थंकर भगवान 'जिनवरवृषभ' (भावापेक्षा से) कहे जाते हैं।

(२) दव्वं ह्र

प्रश्न : द्रव्य किसे कहते हैं ?

उत्तर : गुणों के समूह को द्रव्य कहते हैं।

प्रश्न : गुण किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो द्रव्य के सम्पूर्ण भाग में और उसकी समस्त अवस्थाओं में रहता है वह गुण है।

(३) जीवं-अजीवं ह्र

१. जिसका लक्षण 'सहज शुद्ध चैतन्य' है, वह जीवद्रव्य है। २.उससे विलक्षण (पुद्‌गलादि पाँच भेद वाला) अजीव द्रव्य है। ३. जीव अजीव का यथार्थ ज्ञान न होने से ही संसारी प्राणियों को स्व-पर का विवेक नहीं हो पाता और इसीलिए वे आत्मस्वरूप की प्राप्ति से वंचित रहते हैं, यही कारण है कि वे दु:खी हैं। ४. इसलिए जो कल्याण के मार्ग पर चलना चाहते हैं, उन्हें स्व-पर का यथार्थ विवेक प्रगट करने के लिए जीव-अजीव का यथार्थ ज्ञान करना चाहिए। शास्त्र का यह प्रयोजन है कि जीव निज आत्मरूप उपादान (निजशक्ति) कारण से प्राप्त होने वाला अनन्त सुख प्रगट करे।

(४) सिरसा वंदे ह्र

निज शुद्धात्मा का आराधन भावनमस्कार है और वह जिनेन्द्र भगवान की निश्चय स्तुति वन्दना-प्रणाम-नमस्कार है। (देखिए, श्री समयसार गाथा ३१,

१. जीव के श्रद्धागुण की विपरीत अवस्था को मिथ्यात्व कहते हैं।

३२, ३३ तथा टीका) धर्मी साधक जीव का जिनेन्द्र भगवान को नमस्कार करने का शुभ राग व्यवहार[१] नमस्कार है। ऐसा वन्द्य-वन्दक भाव छठे गुणस्थान तक होता है।।१।।

जीवद्रव्य के नौ अधिकार

जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेहपरिमाणो।
भोत्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई।।२।।

जीव कर्त्ता भोक्ता अर अमूर्तिक उपयोगमय।
अर सिद्ध भवगत देहमित निजभाव से ही ऊर्ध्वगत।।२।।

अन्वयार्थ ह्र (सो) वह [जीव] **(जीवो)** प्राणों से जीता है, **(उवओगमओ)** उपयोगमय है, **(अमुत्ति)** अमूर्तिक है, **(कत्ता)** कर्ता है, **(सदेहपरिमाणो)** अपने छोटे-बड़े शरीर-प्रमाण में रहनेवाला है, **(भोत्ता)** भोक्ता है, **(संसारत्थो)** संसार में रहनेवाला है, **(सिद्धो)** सिद्ध है, **(विस्ससोड्ढ गई)** और [अग्नि की ज्वाला की भाँति] स्वभाव से ऊर्ध्वगमन करने वाला है।

भावार्थ ह्र (१) नौ अधिकार ह्र इस गाथा में जीव के नौ अधिकारों के नाम दिए गए हैं।

(२) जीव-अजीव का ज्ञान ह्र पहले तो दु:ख दूर करने के लिए स्व-पर का ज्ञान आवश्यक है, क्योंकि यदि स्व-पर का ज्ञान न हो तो अपने को पहिचाने बिना वह अपना दु:ख कैसे दूर करेगा ?

अथवा स्व-पर को एकरूप जानकर यदि अपना दु:ख दूर करने के लिए पर का उपचार करे तो उससे अपना दु:ख कैसे दूर होगा ? अथवा अपने से भिन्न ऐसे पर में यह जीव अहंकार-ममकार करे तो उससे दु:ख ही होगा। इससे

१. यथार्थ का नाम निश्चय है और उपचार का नाम व्यवहार है। (मोक्षमार्गप्रकाशक अधिकार ७, पृष्ठ १९३) सत्य निरूपण निश्चय है और उपचार-निरूपण व्यवहार है। निश्चय-व्यवहार का सर्वत्र (चारों अनुयोगों में) ऐसा ही लक्षण है। ह्र पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर द्वारा प्रकाशित मोक्षमार्गप्रकाशक, अधिकार ७, पृष्ठ २४८।

https://AtmaDharma.com & https://AtmaDharma.org

स्पष्ट है कि स्व-पर का ज्ञान होने पर दु:ख दूर होता है। स्व-पर का ज्ञान जीव-अजीव का ज्ञान होने पर ही होता है, क्योंकि स्वयं जीव है और शरीरादि अजीव हैं। जब इनके लक्षणादि के द्वारा जीव-अजीव की पहिचान होती है, तभी स्व-पर की भिन्नता भासित होती है, इसलिए जीव-अजीव को जानना[१] चाहिए। इसलिए ३ से १४वीं गाथा तक जीव के नौ अधिकारों का वर्णन किया है, तत्पश्चात् १५ से २२वीं गाथा तक अजीवाधिकार का वर्णन किया है। इनके जाने बिना जीव-अजीव की भिन्नता की यथार्थ प्रतीति नहीं हो सकती।

(३) हेय-उपादेय ह्न शुद्धनयाश्रित[२] जीवस्वरूप उपादेय (ग्रहण करने योग्य, आदर करने के योग्य) है, शेष सब हेय[३] (छोड़ने के योग्य) हैं। इस प्रकार हेय-उपादेयरूप भावार्थ समझना चाहिए।

जीव के नौ अधिकार प्रारम्भ करने से पूर्व इस शास्त्र में कथित 'नय' सम्बन्धी भूमिका

इस शास्त्र की विशेषता ह्न

१) इस शास्त्र के कथन की विशेषता यह है कि जिन-जिन गाथाओं में 'नय' कहे हैं, उन-उन गाथाओं में निश्चय और व्यवहार नयों का कथन एक ही साथ किया है, इसलिए उसका स्वरूप संक्षेप में यहाँ दिया जा रहा है।

नय क्या है ?

२) सम्यक् श्रुतज्ञानप्रमाण के अवयव को (अंश को, विकल्प को) नय कहा जाता है। 'नय' का धात्वर्थ ह्न नी = नय अर्थात् अपने ज्ञान को वस्तु[४] के

१. देखो मोक्षमार्गप्रकाशक, अधिकार ४, पृष्ठ ७८

२. देखो बृहद् द्रव्यसंग्रह, पृष्ठ ९, इस गाथा की टीका में कहा है कि शास्त्रों की व्याख्या करने में शब्दार्थ, नयार्थ, मतार्थ, आगमार्थ, भावार्थ ह्न यह पाँचों प्रकार जानने चाहिए।

३. नियमसार गाथा ३८-५० तथा उनकी टीका। निज शुद्ध अन्त:तत्त्व उपादेय है, अन्य समस्त भाव हेय हैं। पृष्ठ ७८ तथा १०५

४. प्रत्येक वस्तु सामान्य-विशेषात्मक होती है, इसलिए वस्तु का ज्ञान तो प्रमाण है, और उसके एक भाग को जानने वाला नय है।

यथार्थ स्वरूप की ओर ले जाना। वस्तुग्राहक 'प्रमाण' है, एकदेश ग्राहक 'नय' है।

क्या मिथ्यादृष्टि के नय होते हैं ?

३) मिथ्यादृष्टि का श्रुतज्ञान मिथ्या होता है, इसलिए उसके सच्चे नय नहीं होते, उसके श्रुतज्ञान के अंश को 'कुनय' कहा जाता है।

नय का तात्पर्य ह्न

४) नय का तात्पर्य ऐसा है कि वस्तु अनेक धर्मात्मक है, उनमें से किसी धर्म की मुख्यता करके अविरोधरूप से साध्य पदार्थ को जानना।

क्या पहले अकेला व्यवहारनय होता है ?

५) नहीं, ऐसा नहीं होता, क्योंकि आगम का वचन ऐसा है कि ह्न "निरपेक्षा नया: मिथ्या:, सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत्" (आप्तमीमांसा, श्लोक १०८)। निश्चयनय सापेक्ष ही व्यवहारनय होता है। निश्चय[१] की अपेक्षा सहित ही व्यवहारनय मोक्षमार्ग में है, केवल व्यवहार का ही पक्ष मोक्षमार्ग में नहीं है। इसलिए यह मान्यता मिथ्या है कि पहले केवल व्यवहारनय होता है और फिर निश्चयनय प्रगट होता है।

जिनवाणी की पद्धति ह्न

६) दो नयों के आश्रय से सर्वस्व कहने की[२] जिन भगवन्तों की वाणी की पद्धति है। भगवान का कथन एक नयाश्रित नहीं होता। ऐसी दो नयाश्रित व्याख्या सम्यग्ज्ञानरूपी[३] निर्मल ज्योति की जननी है। शास्त्राभ्यास होते हुए भी जिसे सम्यग्ज्ञान प्रगट न हो, उसने वास्तव में जिनवाणी की पद्धति का आशय ही नहीं जाना है।

१. श्री समयसार गाथा ३०६-३०७, पृष्ठ ४८६, पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर से प्रकाशित।

२. नियमसार कलश २, पृष्ठ २

३. पंचास्तिकाय कलश २, पृष्ठ २

https://AtmaDharma.com & https://AtmaDharma.org

७) इन दो नयों के नाम 'निश्चय' और 'व्यवहार' हैं। यह दो नाम सूचित करते हैं कि उनके स्वरूप एक-दूसरे से भिन्न-विरुद्ध-प्रतिपक्ष हैं। यदि ऐसा न होता तो 'नयों' को भिन्न-भिन्न भाववाचक नाम नहीं दिए जाते।

नयज्ञान की और भेदज्ञान की आवश्यकता ह्न

८) जीव को अनादि से स्व-पर की एकत्वरूप श्रद्धा से मिथ्यादर्शन है; स्व-पर के एकत्वज्ञान से अज्ञान-मिथ्याज्ञान है; और स्व-पर के एकत्वाचरण से मिथ्याचारित्र है।

९) समस्त दुःखों का मूल कारण मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र है। इन सभी दुःखों का अभाव करने के लिए उसे दो प्रकार का भेदज्ञान कराया जाता है।

पहले प्रकार का भेदज्ञान ह्न

जीव अपने गुणों और पर्यायों से एक है, अभिन्न है और परद्रव्यों, उनके गुणों और पर्यायों से अत्यन्त पृथक् है, भिन्न है। अर्थात् जीव स्वद्रव्य से, स्वक्षेत्र से, स्वकाल से और स्वभाव से है, इसलिए परद्रव्य के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से अत्यन्त भिन्न है। इसलिए उस अपेक्षा से परद्रव्य, उसके गुण-पर्यायों के साथ का सम्बन्ध मात्र व्यवहारनय से संयोगरूप या निमित्तरूप है ह्न ऐसा ज्ञान कराया जाता है।

इस दृष्टि से परद्रव्यों के साथ का सम्बन्ध असद्भूत-असत्य होने से उस सम्बन्ध का ज्ञान कराने वाले नय को 'व्यवहारनय' कहा जाता है। और जीव के द्रव्य-गुण-पर्याय जो कि अपने हैं, उन्हें पर से भिन्न बताने के लिए 'निश्चयनय' कहा जाता है।

दूसरे प्रकार का भेदज्ञान ह्न

१०) किन्तु इतना सा भेदज्ञान करने से सम्यग्दर्शन-ज्ञान नहीं हो जाता, क्योंकि अनादि से जीव की पर्याय 'अशुद्ध' है। वह अपने में होती है, इस अपेक्षा से उसे 'निश्चय' का विषय कहा है, तथापि उसी को द्रव्य के त्रैकालिक

शुद्ध-स्वरूप से भिन्न बताने के लिए तथा गुणभेद और पर्यायभेद के आश्रय से राग उत्पन्न होता है, इसलिए उन गुणभेदों को शुद्ध पर्यायों को और अशुद्ध पर्यायों को, उसका आश्रय छुड़ाने के लिए 'व्यवहार' कहा जाता है। और जीवद्रव्य का त्रैकालिक शुद्ध स्वरूप जो कि ध्रुव है, उसे 'निश्चय' कहा जाता है। क्योंकि उसके आश्रय से ही धर्म का प्रारम्भ, उसकी स्थिरता, वृद्धि और पूर्णता होती है।*

११) इसलिए इस शास्त्र की भिन्न-भिन्न गाथाओं में नयों का स्वरूप दिया है, उसे ठीक से समझने की आवश्यकता है।

१२) यह दोनों प्रकार के भेदज्ञान तब हुए कहलायेंगे, जब जीव अपने ध्रुव स्वभाव का आश्रय लेकर धर्म को प्रगट करे। इस प्रकार अपूर्व धर्म जीव के अपने आश्रय से प्रकट होता है। उस समय श्रद्धा की जो पर्याय प्रगट होती है, उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं। और ज्ञानगुण की जो शुद्ध पर्याय प्रगट होती है, उसे भावश्रुतज्ञान अथवा सम्यग्ज्ञान कहते हैं। यह भावश्रुतज्ञान अवयवी है और सम्यक् नय उसके अवयव अर्थात् अंश हैं।

१३) 'व्यवहारनय' का ज्ञान कराने का प्रयोजन यह है कि जो सीधे ही सिंह के स्वरूप को न समझ सके, उसे सिंह के स्वरूप के उपचरित निरूपण द्वारा अर्थात् बिल्ली के स्वरूप के द्वारा सिंह के यथार्थ स्वरूप की ओर ले जाया जाता है, इसी प्रकार जिसे सीधे ही वस्तु का यथार्थ स्वरूप समझ में नहीं आ सकता, उसे वस्तुस्वरूप के उपचरित निरूपण द्वारा वस्तु के यथार्थ स्वरूप की ओर ले जाया जाता है। इसलिए उसे परमार्थ (निश्चय) का प्रतिपादक मानकर स्थापित किया जाता है।

१४) तथापि १. वह अनुसरण के योग्य नहीं है, २. उसके आश्रय से राग उत्पन्न होता है, ३. निर्विकल्पता नहीं होती; इसलिए यह नहीं समझना चाहिए

* देखो, श्री समयसार ह्न रायचन्द्र ग्रन्थमाला, जयसेनाचार्य टीका। गाथा ५७, पृष्ठ १०१, गाथा १०२, पृष्ठ १६७, गाथा १३३ से १३५, पृष्ठ १७९, गाथा १३७-१३८ पृष्ठ १९८

https://AtmaDharma.com & https://AtmaDharma.org

कि भगवान व्यवहार का आलम्बन करवाते हैं, किन्तु यह समझना चाहिए कि वे उसका आलम्बन छुड़वाकर परमार्थ (निश्चय) नय का आलम्बन करवाते हैं।

१५) इसलिए व्यवहारनय को निषेध्य और निश्चयनय को उसका निषेधक कहा जाता है।।२।।

१. जीवाधिकार

तिक्काले चदुपाणा इंदियबलमाउ आणपाणो य।
ववहारा सो जीवो णिच्चयणयदो दु चेदणा जस्स ।।३।।

जो सदा धारें श्वाँस इंद्रिय आयु बल व्यवहार से।
वे जीव निश्चयजीव वे जिनके रहे नित चेतना ।।३ ।।

अन्वयार्थ ह्न (ववहारा) व्यवहारनय से, जिसके **(तिक्काले)** भूत, वर्तमान और भविष्यकाल में **(इंदिय)** इन्द्रिय, **(बलम्)** बल, **(आउ)** आयु, **(य)** और **(आणपाणो)** श्वासोच्छ्वास **(चदुपाणा)** यह चार प्राण होते हैं। **(दु)** और **(णिच्चयणयदो)** निश्चयनय से **(जस्स)** जिसके **(चेदणा)** चेतना होती है **(सो जीवो)** वह जीव है।

भावार्थ ह्न १) जीव के व्यवहार नय से प्राण ह्न जीव के व्यवहारनय से अर्थात् संयोगरूप से इन्द्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छ्वास ह्न यह चार जड़ प्राण संसार दशा में होते हैं। यह चार प्राण पुद्गल द्रव्य की स्कंधरूप पर्यायें हैं। पुद्गल द्रव्य जीव से सब प्रकार से अर्थात् द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से अत्यन्त भिन्न है। जड़ प्राण संयोगरूप होने से अनित्य हैं।

२) जीव के निश्चयनय से प्राण ह्न जीव के निश्चय नय से अर्थात् वास्तव में सदा चेतना प्राण है। इस चेतना प्राण के कारण जीव यथार्थ में अनादि से अनन्त काल तक जीता है। यह चेतना प्राण शाश्वत होने से नित्य है।

३) निश्चयनय-व्यवहारनय का स्वरूप ह्न नयों का स्वरूप भूमिका में पैरा १ से १५ तक दिया गया है। उसे पढ़ लेना चाहिए। यद्यपि यथार्थ में जीव

सदैव चेतना (भाव) प्राण से जीता है, तथापि संसार दशा में व्यवहारजीवत्व के कारणभूत इन्द्रियादि द्रव्यप्राणों से 'व्यवहारनय' से जीता है ह्न ऐसा द्रव्यप्राणों के संयोग का ज्ञान कराने के लिए कहा जाता है। वे द्रव्यप्राण किंचित् मात्र भी आत्मा का स्वरूप नहीं हैं, क्योंकि वे पुद्गल द्रव्य से बने हुए हैं।[१]

४) दोनों नय एक ही साथ ह्न इन दोनों नयों के विषयों का परस्पर विरोध होने पर भी उन विषयों के एक साथ रहने में विरोध नहीं है।

५) जीव के पौद्गलिक प्राणों की संतति का हेतु ह्न संसारी जीव जब तक देहप्रधान विषयों का ममत्व नहीं छोड़ता, तब तक वह पुन: पुन: अन्य-अन्य प्राण धारण करता है। इसलिए जीव यदि उपयोगमात्र आत्मा को ध्याये तो प्राण उसका अनुसरण कैसे करेंगे ? (अर्थात् उसके प्राणों का सम्बन्ध नहीं होता।)[२]

तात्पर्य ह्न जीवद्रव्य से पुद्गल विपरीत है, इसलिए अनन्त दर्शन-ज्ञान-सुख-वीर्यादि अनन्तगुण स्वभावमय निज परमात्मतत्त्व से द्रव्यप्राण भिन्न हैं, ऐसी भावना करनी चाहिए।[३]

व्यवहार नय से जीव के कितने प्राण होते हैं ह्न

प्राणों का कोष्ठक

जीव	इन्द्रिय	बल	आयु	श्वास	कुल प्राण
एकेंद्रिय	स्पर्शन्	काय	हाँ	हाँ	४
द्वींद्रिय	स्पर्शन्, रसना	काय, वचन	हाँ	हाँ	६
त्रीन्द्रिय	स्पर्शन्, रसना, घ्राण	काय, वचन	हाँ	हाँ	७
चतुरिन्द्रिय	स्पर्शन्, रसना, घ्राण, चक्षु	काय, वचन	हाँ	हाँ	८
पंचेन्द्रिय-					
असंज्ञी	स्पर्शन्, रसना, घ्राण, चक्षु, कर्ण	काय, वचन	हाँ	हाँ	९
संज्ञी	स्पर्शन्, रसना, घ्राण, चक्षु, कर्ण	काय, वचन, मन	हाँ	हाँ	१०

१. प्रवचनसार गाथा १४७, पृष्ठ ३०३
२. प्रवचनसार गाथा १५०-१५१, पृष्ठ ३०७-३०८
३. प्रवचनसार गाथा १४७, श्री जयसेनाचार्य की टीका, पृष्ठ २३३ (जयपुर से प्रकाशित)

https://AtmaDharma.com & https://AtmaDharma.org

२. उपयोगाधिकार

(दर्शनोपयोग के भेद)

उवओगो दुवियप्पो दंसण णाणं च दंसणं चदुधा।
चक्खु अचक्खू ओही दंसणमध केवलं णेयं।।४।।

उपयोग दो हैं ज्ञान-दर्शन चार दर्शन जानिये।
चक्षु अचक्षु अवधि केवल नाम से पहिचानिये।।४।।

अन्वयार्थ ह्न (उवओगो) उपयोग **(दुवियप्पो)** दो प्रकार का है ह्न **(दंसणं णाणं च)** दर्शन और ज्ञान। **(दंसणं)** इसमें से दर्शनोपयोग **(चदुधा)** चार प्रकार का **(णेयं)** जानना चाहिए ह्न **(चक्खु अचक्खू ओही अध केवलं दंसणं)** चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन।

भावार्थ ह्न १) उपयोग ह्न जीव चेतन द्रव्य है। ज्ञान-दर्शन उसके गुण हैं। उसका एक नाम चैतन्य[1] है। चैतन्य का अनुसरण करके होने वाले आत्मा के परिणाम को 'उपयोग'[2] कहा जाता है।

२) उपयोग के भेद ह्न उपयोग के दो भेद हैं। दर्शन और ज्ञान। इनमें से दर्शनोपयोग के चार भेद हैं ह्न चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन।

१. चक्षुदर्शन ह्न नेत्र के सम्बन्ध से होने वाले मतिज्ञान से पूर्व होनेवाले सामान्य प्रतिभास अथवा अवलोकन को चक्षुदर्शन कहते हैं।

२. अचक्षुदर्शन ह्न नेत्र के अतिरिक्त शेष इन्द्रियों और मन के सम्बन्ध से होनेवाले मतिज्ञान से पूर्व होनेवाले सामान्य प्रतिभास अथवा अवलोकन को अचक्षुदर्शन कहते हैं।

---

१. चैतन्य-विशेष ज्ञानगुण है, चैतन्य-सामान्य दर्शनगुण है।

२. वास्तव में ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय कर्मों के क्षयोपशम-क्षय के अनुसार उपयोग नहीं होता, इसलिए यह कहना कि 'तदनुसार हुआ है' ह्न यह निमित्तकारण का ज्ञान कराने के लिए उपचार है।

३. अवधिदर्शन ह्न अवधिज्ञान से पूर्व होनेवाले सामान्य प्रतिभास अथवा अवलोकन को अवधिदर्शन कहते हैं।*

४. केवलदर्शन ह्न केवलज्ञान के साथ प्रवर्तमान सामान्य प्रतिभास अथवा अवलोकन को केवलदर्शन कहते हैं। इस विषय से सम्बन्धित गाथा ४३-४४ देखिए। ४३वीं गाथा और उसके भावार्थ में दर्शनोपयोग की व्याख्या दी गई है।

तात्पर्य ह्न जिनेन्द्रकथित[1] समस्त दर्शन-ज्ञान के भेदों को जानकर जो पुरष पर-भावों का परिहार करके निजस्वरूप में स्थित होता हुआ शीघ्र ही चैतन्य-चमत्कार मात्र तत्त्व में बैठ जाता है, गहराई में उतर जाता है, वह निर्वाण-सुख को प्राप्त होता है।।४।।

ज्ञानोपयोग के भेद

णाणं अट्ठवियप्पं मदिसुदओही अणाणणाणाणि।
मणपज्जयकेवलमवि पच्चक्खपरोक्क्खभेयं च।।५।।

ज्ञान आठ मतिश्रुतावधि ज्ञान भी कुज्ञान भी।
मनःपर्यय और केवल प्रत्यक्ष और परोक्ष भी।।५।।

अन्वयार्थ ह्न (मदिसुदओही अणाणणाणाणि) मतिअज्ञान, श्रुतअज्ञान, अवधिअज्ञान; मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, **(अवि)** और **(मणपज्जय)** मनःपर्ययज्ञान तथा **(केवल)** केवलज्ञान, इस प्रकार **(णाणं)** ज्ञानोपयोग **(अट्ठवियप्पं)** आठ प्रकार का है, **(च)** और वह ज्ञानोपयोग **(पच्चक्खपरोक्क्खभेयं)** प्रत्यक्ष तथा परोक्ष के भेद से दो प्रकार का है।

भावार्थ ह्न १) ज्ञानोपयोग के भेद ह्न ज्ञानोपयोग के कुल मिलाकर आठ भेद हैं। इनमें से कुमति और कुश्रुत सभी मिथ्यादृष्टियों के होते हैं। सभी मिथ्यादृष्टि देवों, देवियों तथा नारकियों के कुअवधि भी होता है। किसी-किसी

---

* श्रुतदर्शन और मनःपर्यय दर्शन नहीं होते, क्योंकि श्रुत और मनःपर्ययज्ञान मतिपूर्वक होते हैं।

१. देखिए, नियमसार कलश १७, पृष्ठ २६-२७

https://AtmaDharma.com & https://AtmaDharma.org

मिथ्यादृष्टि मनुष्य-तिर्यंच के भी कुअवधि होता है। सम्यक् मति और श्रुत दो-दो ज्ञान सभी छद्मस्थ सम्यग्दृष्टियों के होते हैं। अवधिज्ञान किसी-किसी छद्मस्थ सम्यग्दृष्टि के होता है। मन:पर्ययज्ञान किसी-किसी भावलिंगी मुनि के होता है। तीर्थंकर देव को मुनिदशा में और गणधर देव को वह ज्ञान नियम से होता है। केवलज्ञान केवली और सिद्ध भगवन्तों के होता है।

२) मिथ्याज्ञान ह्न अज्ञान-कुज्ञान-मिथ्यादृष्टियों का मति-श्रुतज्ञान अन्य ज्ञेय में लगता है, किन्तु प्रयोजनभूत जीवादि तत्त्वों का यथार्थ निर्णय करने में नहीं लगता, यह ज्ञान का ही दोष है, इसलिए उसे 'मिथ्याज्ञान' कहा है। उस ज्ञान को तत्त्वज्ञान का अभाव होने से 'अज्ञान' कहा है, तथा वह अपना प्रयोजन सिद्ध नहीं करता इसलिए उसे ही 'कुज्ञान' कहा है।

३) प्रत्यक्ष-परोक्ष ज्ञान के प्रत्यक्ष और परोक्ष ह्न ऐसे दो भेद भी हैं।

तात्पर्य ह्न यह है कि निज शुद्धात्मा के सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान-आचरण लक्षण-एकाग्रध्यान के द्वारा चार घातिया कर्मों का क्षय होने पर जो उत्पन्न होता है, वही समस्त द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव को सम्पूर्णतया जाननेवाला केवलज्ञान[1] प्रगट करने योग्य है, ऐसा समझना चाहिए। चौथी गाथा में जो तात्पर्य बताया है, वह यहाँ भी लागू होता है।।५।।

उपयोग जीव का लक्षण है

अट्ठचदुणाणदंसण सामण्णं जीवलक्खणं भणियं।
ववहारा सुद्धणया सुद्धं पुण दंसणं णाणं।।६।।

सामान्यतः चऊ-आठ दर्शन-ज्ञान जिय लक्षण कहे।
व्यवहार से पर शुद्धनय से शुद्धदर्शन-ज्ञान हैं।।६।।

१. केवलज्ञान-दर्शन क्षायिक भाव से हैं, शेष दश उपयोग क्षायोपशमिक भाव से हैं। उन दश उपयोगों में से जितना ज्ञान-दर्शन का अभाव है, वह औदयिक भाव से है। गाथा ६ में कथित 'शुद्ध दर्शन-ज्ञान' परमपारिणामिक भाव से है। (ज्ञानावरण-दर्शनावरण और अन्तराय ह्न इन तीन घाति कर्मों का उपशम नहीं होता, इसलिए ज्ञान-दर्शन-वीर्य औपशमिक भाव से नहीं होते।)

अन्वयार्थ ह्न (ववहारा) व्यवहारनय से **(अट्ठचदुणाणदंसण)** आठ प्रकार के ज्ञान और चार प्रकार के दर्शन को **(सामण्णं)** सामान्य **(जीवलक्खणं)** जीव का लक्षण **(भणियं)** कहा गया है, **(पुण)** और **(सुद्धणया)** शुद्ध निश्चयनय से **(सुद्धं)** शुद्ध **(दंसणं)** दर्शन और **(णाणं)** ज्ञान को ही जीव का लक्षण कहा गया है।

१) सामान्य लक्षण ह्न यहाँ जो जीव का लक्षण व्यवहारनय से कहा है, उसमें संसारी या मुक्त जीवों का पृथक्-पृथक् कथन नहीं किया है, इसलिए 'सामान्य' है, एक यह कारण है। दूसरा कारण यह है कि 'शुद्ध ज्ञान-दर्शन' ह्न ऐसा कथन न करके ज्ञान-दर्शनोपयोग के 'सामान्यतया' भेद किए गए हैं, इसलिए उनमें से यथासम्भव जिस जीव के जो लागू हो, वह उस जीव का लक्षण समझना चाहिए।

२) उपयोग गाथा ४ से ६ तक में ह्न 'उपयोग' का अर्थ ज्ञान-दर्शन का उपयोग समझना चाहिए। (उपयोग की व्याख्या चौथी गाथा के भावार्थ में दी गई है।) चारित्रगुण की जो शुभोपयोग, अशुभोपयोग, शुद्धोपयोग अवस्था है, वह यहाँ नहीं समझना चाहिए।

३) व्यवहारनय ह्न अभेद आत्मा में ज्ञान की पर्यायों के भेद करना सो 'व्यवहार' है। (देखिए भूमिका) यहाँ अपनी पर्याय को 'व्यवहारनय' और गाथा ३ में परसंयोगी पदार्थ को 'व्यवहारनय' कहा है।

४) निश्चयनय ह्न शुद्धनय अर्थात् निश्चयनय से शुद्ध अखण्ड केवलज्ञान तथा दर्शन जीव का लक्षण है। जीव का वास्तविक स्वभाव केवलज्ञान और केवलदर्शनरूप है, इसलिए शुद्धनय से वह जीव का लक्षण है। यह लक्षण अपने द्रव्य से अभिन्न है, इसलिए यह शुद्ध नय का विषय है। यह निश्चयनय[1] त्रैकालिक स्वरूप को बतलाता है। उसका विषय और व्यवहारनय[2] का विषय परस्पर (भाव

१. यह नय निषेधक है और उसके द्वारा व्यवहारनय निषेध्य है।
२. केवलज्ञान-दर्शन प्रति शुद्धसद्भूत अर्थात् अनुपरित सद्भूत व्यवहार है। छद्मस्थ के अपूर्ण ज्ञान-दर्शन अशुद्ध सद्भूत अर्थात् उपचरित सद्भूत व्यवहार है। कुमति-कुश्रुत और विभंग यह तीनों उपचरित असद्भूतव्यवहार हैं। देखिए बृहद् द्रव्यसंग्रह गाथा ६, पृष्ठ २१

https://AtmaDharma.com & https://AtmaDharma.org

से) विरोधी हैं। तथापि एक साथ रहने में विरोध नहीं है, ऐसा वस्तु का अनेकान्तस्वरूप है। दोनों नयों के यथार्थ ज्ञान को सम्यक् श्रुतप्रमाण कहते हैं।

भावार्थ ह्न १) छद्मस्थ के केवलज्ञान ह्न दर्शनोपयोग नहीं होता और पर्याय के आश्रय से रागी के राग उत्पन्न होता है। तथा पर्याय में से नई पर्याय उत्पन्न नहीं होती, वह त्रैकालिक द्रव्य में से होती है, इसलिए शुद्धनय के विषयभूत ऐसे अपने त्रैकालिक द्रव्य का आश्रय लेकर पहले अज्ञान दूर करना चाहिए और फिर स्वाश्रय की वृद्धि करके केवलज्ञान प्रगट करना चाहिए; यह इस गाथा का आशय है।

२) उपयोग के भेद ह्न ज्ञानस्वभावभूत एक पद के भेद नहीं करते, किन्तु जीव जो स्वयं एक पद है, उसका वे अभिनन्दन[१] करते हैं। उस एक पद के आश्रय से जीव धर्म का प्रारम्भ करके निर्वाण को प्राप्त होता हे। गाथा ४-५ में बताया गया तात्पर्य इस गाथा में भी लागू होता है।।६।।

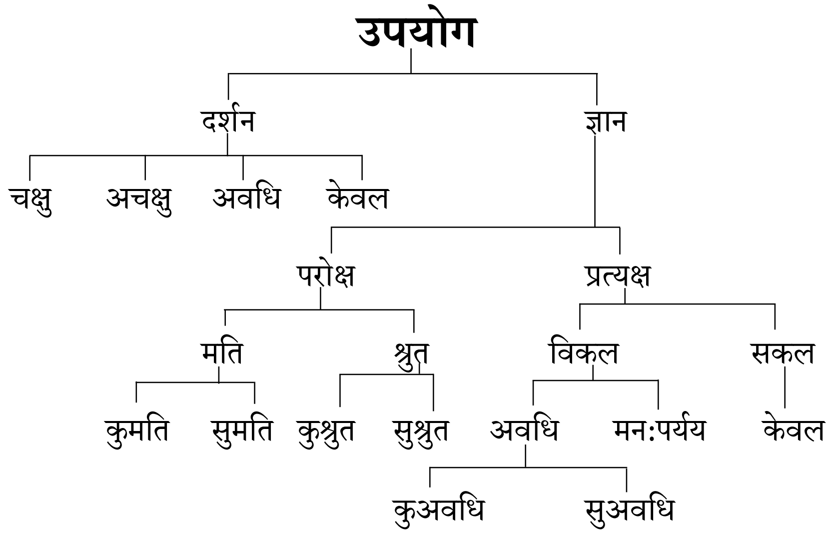

(गाथा ४-५ और पाँचवीं गाथा की टिप्पणी के अनुसार)

१. समयसार गाथा २०४ टीका (परमात्मप्रकाश गाथा १०५, श्री समयसार की गाथा २०४ आधाररूप में ली है। परमात्मप्रकाश गाथा १०७ में कहा है कि ह्न मतिज्ञानादि पाँच विकल्प रहित जो 'परमपद' है, यह साक्षात् मोक्ष-कारण है।

३. अमूर्तिकत्व अधिकार

जीव निश्चयनय से अमूर्त होने पर भी व्यवहारनय से मूर्त कहा जाता है।

वण्ण रस पंच गंधा दो फासा अट्ठ णिच्चया जीवे।
णो संति अमुत्ति तदो ववहारा मुत्ति बंधादो।।७।।

स्पर्श रस गंध वर्ण जिय में नहीं हैं परमार्थ से।
अतः जीव अमूर्त मूर्तिक बंध से व्यवहार से।।७।।

अन्वयार्थ ह्न (णिच्चया) निश्चयनय से **(जीवे)** जीवद्रव्य में **(वण्ण रस पंच)** पाँच वर्ण, पाँच रस **(गंधा दो)** दो गंध और **(फासा अट्ठ)** आठ स्पर्श **(णो संति)** नहीं होते **(तदो)** इसलिए जीव **(अमुत्ति)** अमूर्तिक है, **(ववहारा)** व्यवहार नय से जीव को **(बंधादो)** कर्मबन्धन होने से **(मुत्ति)** मूर्तिक कहा गया है।

भावार्थ ह्न १) वर्णादिरहित ह्न प्रत्येक जीव अनादि-अनन्त वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्शरहित है, इसलिए वह प्रति समय वास्तव में अमूर्तिक (अरूपी) है। किन्तु संसार दशा में अनादि से मूर्तिक पुद्गल कर्मों के साथ उसका बन्ध है, इसलिए संयोग का ज्ञान कराने के लिए उसे मूर्तिक कहा जाता है, किन्तु ऐसा होने से वह सचमुच ही मूर्तिक नहीं हो जाता। यदि सचमुच ही जीव को मूर्तिक मान लिया जाए तो फिर जीव-अजीव का कोई भेद ही नहीं रहेगा।

२) निश्चयनय-व्यवहारनय ह्न १. यहाँ पर निश्चयनय जीव की त्रैकालिक अमूर्तिकता तो बतलाता है और व्यवहारनय पुद्गलकर्म के साथ का अनादि सम्बन्ध बतलाता है। इन दोनों नयों का विषय परस्पर विरोधी है, किन्तु उसके एक साथ रहने में विरोध नहीं है। तीसरी गाथा में पुद्गल-प्राणों

https://AtmaDharma.com & https://AtmaDharma.org

के साथ का व्यवहार सम्बन्ध बतलाया है और यहाँ पुद्गल-कर्म के साथ का व्यवहार सम्बन्ध (क्षणिक सम्बन्ध) बतलाया है।

निश्चयनय व्यवहार का निषेधक है और व्यवहार निश्चयनय के द्वारा निषेध्य है।

२) संसार दशा में प्रत्येक जीव के इन दोनों नयों का विषय एक ही साथ होता है।

तात्पर्य ह्न

तीसरी गाथा का तात्पर्य यहाँ भी लागू होता है। 'पुद्गल कर्म मुझसे सर्वथा भिन्न है, इसलिए वह मुझे हानि-लाभ नहीं कर सकता' ह्न ऐसा निर्णय करके अपने अमूर्तिक, त्रैकालिक ध्रुव स्वभाव का आश्रय करने से धर्म प्रगट होता है, टिकता है, वृद्धि को प्राप्त होता है और पूर्ण होता है। तथा पूर्ण होने पर पुद्गल कर्म के साथ का आत्यंतिका वियोग होकर जीव सिद्ध पद को प्राप्त होता है।।७।।

पुद्गल की २० पर्यायें

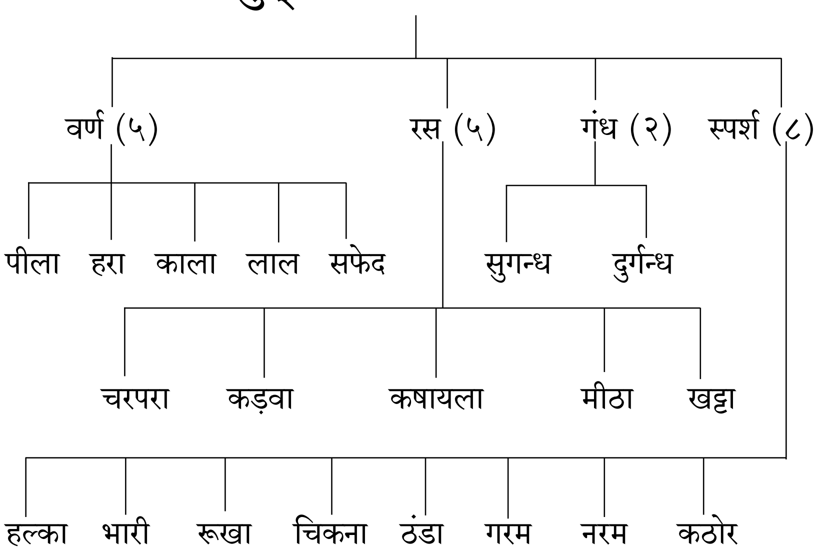

४. कर्त्ता अधिकार

पुग्गलकम्मादीणं कत्ता ववहारदो दु णिच्चयदो।
चेदणकम्माणादा सुद्धणया सुद्धभावाणं।।८।।
चिद्कर्मकर्त्ता नियत से द्रवकर्म का व्यवहार से।
शुधभाव का कर्त्ता कहा है आतमा परमार्थ से।।८।।

अन्वयार्थ ह्न (ववहारदो) व्यवहारनय से **(आदा)** आत्मा, जीव **(पुग्गलकम्मादीणं)** पुद्गल कर्मादि का **(कत्ता)** कर्त्ता है **(दु)** और **(णिच्चयदो)** [अशुद्ध] निश्चयनय से **(चेदणकम्मणा)** चेतन कर्मों का कर्त्ता है। तथा **(सुद्धणया)** शुद्ध [निश्चय] नय से **(सुद्धभावाणं)** शुद्ध ज्ञान और शुद्ध दर्शनस्वरूप चैतन्यादि भावों का कर्त्ता है।

भावार्थ ह्न १) कर्तृत्त्व और अकर्तृत्त्व[१] ह्न यह सामान्य गुण छहों द्रव्यों में हैं, इसलिए कर्तृत्त्व गुण के कारण प्रत्येक द्रव्य अपनी अवस्था का कर्त्ता है और अकर्तृत्त्व गुण के कारण पर की अवस्था का कर्त्ता नहीं हो सकता। इसलिए जीव अपनी पर्यायें करता है, किन्तु ऐसा कभी नहीं हो सकता कि वह पर का कुछ भी कर सकता है।

२) जीव का कर्तृत्त्व ह्न १. चैतन्यस्वभाव के कारण कर्तृस्थित (कर्त्ता में रहनेवाली क्रिया का) ज्ञप्ति तथा दृशि का जीव ही कर्त्ता है। उसके सम्बन्ध में रहनेवाला पुद्गल उसका कर्त्ता नहीं है, जैसे कि आकाशादि[२] नहीं हैं। चैतन्य के विवर्तरूप (पलटारूप) संकल्प की उत्पत्ति जीव में होती है, इसलिए (क) सुखाभिलाषारूप क्रिया का (ख) दु:ख की उद्वेगरूप क्रिया

१. प्रवचनसार गाथा ९५, पृष्ठ १७७ (जयपुर से प्रकाशित)
२. इष्टोपदेश की ३५ वीं गाथा में जैसे सभी निमित्त 'धर्मास्तिकायवत्' कहे गए हैं, वैसे ही यहाँ कर्म के उदय, क्षयोपशम, क्षय, उपशमादि, इन्द्रिय, मन, नोकर्म सभी निमित्तों को 'यथाकाशादि' कहा है। पंचास्तिकाय गाथा १२२ की टीका, पृष्ठ १८० (जयपुर)

https://AtmaDharma.com & https://AtmaDharma.org

तथा (ग) अपने द्वारा चेतित (चिन्तन में आनेवाले) शुभाशुभ भावों की रचना रूप क्रिया का जीव ही कर्ता है, अन्य नहीं। २. शुभाशुभ कर्म के फलभूत इष्ट-अनिष्ट विषय-उपभोगक्रिया का सुख-दुःखस्वरूप स्वपरिणाम-क्रिया की भाँति जीव ही कर्त्ता है, अन्य[१] नहीं।

इससे यह समझाया है कि उपरोक्त असाधारण कार्यों के द्वारा पुद्गल से भिन्न आत्मा अनुमान किया जा सकता है। ३. जीव विकार या अविकारपणे से स्वयमेव छह कारकरूप वर्तता हुआ[२] अन्य कारक (निमित्तों) की अपेक्षा नहीं रखता।

३) नय ह्न इस गाथा में ३ नय कहे गए हैं ह्न १. शुद्धनय, २. निश्चयनय और ३. व्यवहारनय। यहाँ पर जीव को व्यवहारनय से पुद्गल कर्म-नोकर्म आदि का कर्ता कहा है। ऊपर 'कर्तृत्त्व' और 'जीव का कर्तृत्त्व' शीर्षक देकर यह बताया गया है कि जीव पर का कर्ता कदापि नहीं है। किन्तु पुद्गल की क्रिया के समय किस जीव का रागादि विकारभाव निमित्त था, इतना ज्ञान कराने के लिए 'व्यवहारनय से' उसे कर्ता कहा है। किन्तु यहाँ यह सुनिश्चित समझ लेना चाहिए कि जीव परद्रव्य की पर्याय का कर्ता-हर्ता कदापि नहीं हो सकता।

१. शुद्धनय से ह्न जीव अपने त्रैकालिक शुद्धस्वरूप के आश्रय से शुद्ध भावों का कर्त्ता है। संवर-निर्जरा-मोक्ष, निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, निश्चय प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, आलोचना, ध्यान, भक्ति, प्रायश्चित्त और समाधि आदि समस्त निश्चय क्रिया, जो कि सत् वीतरागी क्रिया है, उसका जीव कर्त्ता है।

---

१. पंचास्तिकाय, गाथा १२२, पृष्ठ १८३-१८४ (जयपुर से प्रकाशित)

२. पंचास्तिकाय गाथा ६२, १०५। जीव में कर्तृत्त्व गुण होने से और अनादि से उसकी पर्याय तथा कर्म का सम्बन्ध होने से एवं उसका त्रैकालिक एकत्व ध्रुव रहने से वह पारिणामिकभाव से अनादि-अनन्त है तथा औदयिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक भावों से सादि-सान्त है। वही क्षायिक भाव से सादि-अनन्त है। पंचास्तिकाय गाथा ५३, पृष्ठ ९३

२. निश्चयनय से ह्न जीव अपने दोष से रागादि चेतन ह्न भाव-कर्मों का कर्त्ता है। शुभाशुभ भावों (चेतन कर्मों) का जीव कर्ता है। पौद्गलिक कर्म का उदय चेतनभाव का कर्ता नहीं है, यह बतलाने के लिए उसे निश्चयनय[१] की संज्ञा दी गई है। किन्तु वह निश्चयनय अशुद्ध निश्चयनय है। ३. शुद्धनय की अपेक्षा से वह भी 'व्यवहारनय' है।

इस गाथा में कथित व्यवहारनय पर के साथ का सम्बन्ध बतलाता है। यह जीव पर जीवों का या परद्रव्य का तीन लोक में कुछ भी नहीं कर सकता, तथा उसका निमित्त भी नहीं हो सकता। ऐसा समझना चाहिए।

तात्पर्य ह्न १. शुद्धाशुद्ध भावों का जो परिणमन है, उसका कर्तृत्त्व जीव के है, यह जाननेयोग्य है, और यह भी निश्चित कर लेना चाहिए कि जीव हस्तादि शरीर की किसी भी क्रिया[२] का कर्ता कदापि (एक समय को भी) नहीं है। ऐसा निश्चित करे तो ही शरीर की या परपदार्थ की बोलने, खाने, पीने आदि क्रिया में जो अनादिकालीन जीव की कर्तृत्त्वबुद्धि है, वह छूटे और अपने आत्मस्वरूप की भावना करे। २. जीव को जानकर अचैतन्य स्वभाव के कारण ज्ञान से भिन्न ऐसे जीव सम्बद्ध या असम्बद्ध अजीव को[३] अपने से भेदबुद्धि की प्रसिद्धी के लिए जानो। ३. नित्य, निरंजन, निष्क्रिय, निज आत्मस्वरूप की भावना से रहित अज्ञानी जीव कर्म-नोकर्मादि के स्वयं कर्ता न होने पर भी मानते हैं, इसलिए उन्हें कर्म-नोकर्म आदि का कर्ता कहा जाता है।

विशेष ह्न गाथा २६-३० तथा ३२ से ३७ तक भावास्रव-बन्ध, पुण्य, पाप, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन जीव भावों से सम्बन्धित है, इसलिए इस गाथा के साथ उन गाथाओं को भी पढ़ना चाहिए।।८।।

---

१. देखिए, समयसार में श्री जयसेनाचार्य की टीका, गाथा ५७, १०२, ११३ से ११५, १३७, १३८

२. बृहद् द्रव्यसंग्रह गाथा ८, पृष्ठ २५ (पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर से प्रकाशित)

३. पंचास्तिकाय गाथा १२३, पृष्ठ १८२ (पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर से प्रकाशित)

https://AtmaDharma.com & https://AtmaDharma.org

५. भोक्तृत्त्व अधिकार

ववहारा सुहदुक्खं पुग्गलकम्मप्फलं पंभुजेदि।
आदा णिच्चयणयदो चेदणभावं खु आदस्स ।।९।।
कर्मफल सुख-दुक्ख भोगे जीव नयव्यवहार से।
किन्तु चेतनभाव को भोगे सदा परमार्थ से ।।९ ।।

अन्वयार्थ ह्न (ववहारा) व्यवहारनय से **(आदा)** आत्मा, जीव **(सुहदुक्खं)** सुख-दु:खरूप **(पुग्गलकम्मप्फलं)** पुद्‍गलकर्म का फल भोगता है, और **(णिच्चयणयदो)** निश्चयनय से **(खु)** नियमपूर्वक **(आदस्स)** आत्मा के **(चेदणभावं)** चैतन्यभाव को भोगता है।

भावार्थ ह्न १) भोक्तृत्त्व ह्न भोक्तृत्व[१] और अभोक्तृत्व ह्न यह सामान्य गुण छहों द्रव्यों में हैं। भोक्तृत्व गुण के कारण प्रत्येक द्रव्य अपनी अवस्था का भोक्ता है और अभोक्तृत्व गुण के कारण वह पर को कभी नहीं भोग सकता, इसलिए जीव अपनी पर्याय को ही भोगता है, वह पर को भोगे ह्न ऐसा तीन काल और तीन लोक में कभी भी नहीं हो सकता।

२) जीव का भोक्तृत्त्व ह्न जीव हर्ष-विषादरूप अर्थात् सुख-दु:खरूप अपने विकारी भावों का अशुद्ध दशा में भोक्ता है। साधक दशा में जीव अतींद्रिय सुख का अंशत: भोक्ता है, और केवलज्ञान होने पर अपने परिपूर्ण सुख का भोक्ता है। जीव पुद्‍गल कर्म के अनुभाग का या पर पदार्थों का भोक्ता नहीं है।

३) नय ह्न इस गाथा में २ नय कहे गए हैं। १. व्यवहारनय और २. निश्चयनय।

अ) जीव यथार्थ में परद्रव्यों का भोग नहीं कर सकता, किन्तु जीव का विभाव उस समय निमित्तमात्र है ह्न इतना ज्ञान कराने के लिए जीव साता-

१. प्रवचनसार, गाथा ६५, पृष्ठ ११७ (पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर से प्रकाशित)

असाता कर्म के अनुभागरूप फल को भोगता है, ऐसा व्यवहारनय से[१] (भोक्ता) कहलाता है। और कर्मों के फलस्वरूप अनुकूल-प्रतिकूल (सुख-दु:खरूप) पदार्थों का जो संयोग होता है, जीव उसे भोगने का भाव करता है ह्न इतना जीव का निमित्तमात्रत्व बतलाने के लिए जीव सुख-दु:खरूप बाह्य पदार्थों को भोगता है ह्न ऐसा व्यवहारनय से[२] कहा जाता है। इसलिए ऐसा नहीं समझना चाहिए कि जीव यथार्थ में कर्म के अनुभाग को या अनुकूल पदार्थों को भोगता है।

ब) यहाँ निश्चयनय के दो विभाग हो जाते हैं ह्न

१. अशुद्ध निश्चयनय, २. शुद्ध निश्चयनय। जीव अशुद्ध निश्चयनय से हर्ष-विषादरूप सुख-दु:ख को भोगता है तथा शुद्ध निश्चयनय से अविनाशी आनन्दरूप सुखामृत को भोगता है।

तात्पर्य ह्न कर्ता के सम्बन्ध में जो गाथा ८ में कहा गया है, वह इस गाथा में भी लागू होता है। जीव के कर्तृत्त्व और भोक्तृत्व के विवेचन करने का ग्रंथकार[३] का यह अभिप्राय है कि जीव यथार्थ वस्तुस्वरूप को जानकर पर की और विकार की कर्तृत्व और भोक्तृत्व बुद्धि को छोड़े तथा अपने सहज निर्विकार चिदानन्दस्वरूप शुद्ध पर्याय का कर्ता-भोक्ता होने का सतत प्रयत्न करे।।९।।

६. स्वदेहपरिणामत्व अधिकार

अणुगुरुदेहपमाणो उवसंहारसप्पदो चेदा।
असमुहदो ववहारा णिच्चयणयदो असंखदेसो वा ।।१०।।
समुद्‍घात विन तनमापमय संकोच से विस्तार से।
व्यवहार से यह जीव असंख्य प्रदेशमय परमार्थ से ।।१० ।।

१. यह अनुपचरित असद्‍भूत (मिथ्या) व्यवहारनय है।
२. यह उपचरित असद्‍भूत (मिथ्या) व्यवहारनय है।
३. पण्डित हीरालालजी कृत द्रव्यसंग्रह, पृष्ठ २३।

https://AtmaDharma.com & https://AtmaDharma.org

अन्वयार्थ ह्न (ववहारा) व्यवहारनय से **(चेदा)** जीव **(उवसंहार–प्पसप्पदो)** संकोच और विस्तार[१] के कारण **(असमुहदो)** समुद्घात[२] अवस्था को छोड़कर **(अणुगुरुदेहपमाणो)** छोटे और बड़े शरीर के प्रमाण में रहता है; **(वा)** और **(णिच्चयणयदो)** निश्चयनय से **(असंखदेसो)** वह लोकाकाश जितने असंख्यात प्रदेशवाला है।

१. **जह पउमरायरयणं खित्तं खीरे पभासयदि खीरं।**
तह देही देहत्थो, सदेहमित्तं पभासयदि।।
(पंचास्तिकाय, गाथा ३३, पृष्ठ ६४, जयपुर से प्रकाशित)

अर्थ ह्न जैसे दूध में डाला गया पद्मरागमणि अपनी कान्ति से दूध को प्रकाशित करता है, वैसे ही संसारी जीव अपने शरीरप्रमाण ही रहता है। गरम करने से दूध में उफान आता है, तब दूध के साथ ही पद्मरागमणि की कान्ति भी बढ़ती जाती है। इसी प्रकार ज्यों–ज्यों शरीर पुष्ट (वृद्धिंगत) होता है, त्यों–त्यों उसके साथ ही साथ आत्मा के प्रदेश भी फैल जाते हैं, और जब शरीर दुर्बल हो जाता है, तब जीव के प्रदेश भी संकुचित हो जाते हैं।

२. **मूलसरीरमछंडिय उत्तरदेहस्स जीवपिंडस्स।**
णिग्गमणं देहादो होदि समुग्घादणामं तु।।

अर्थ ह्न मूल शरीर को छोड़े बिना आत्मप्रदेशों का शरीर से बाहर निकलना समुद्घात कहलाता है। उसके ७ भेद हैं ह्न

१. वेदना ह्न अधिक दु:ख की दशा में मूल शरीर को छोड़े बिना जीव के प्रदेशों का बाहर निकलना।

२. कषाय ह्न क्रोधादि तीव्र कषाय के उदय से, धारण किए हुए शरीर को छोड़े बिना जीव के प्रदेशों का शरीर से बाहर निकलना।

३. विक्रिया ह्न विविध क्रिया करने के लिए मूल शरीर को छोड़े बिना आत्मप्रदेशों का बाहर निकलना।

४. मारणान्तिक ह्न जीव मृत्यु के समय तत्काल ही शरीर को नहीं छोड़ता, किन्तु शरीर में रहकर ही (अन्य) जन्मस्थान को स्पर्श करने के लिए आत्मप्रदेश बाहर निकलते हैं।

५. तैजस ह्न इसके दो प्रकार हैं ह्न शुभ और अशुभ। (१) जगत को रोग या दुर्भिक्ष से दु:खी देखकर महामुनि को दया उत्पन्न होने पर जगत् का दु:ख दूर करने के लिए मूल शरीर को छोड़े बिना ही तपोबल से, दाहिने कंधे में से पुरुषाकार सफेद पुतला निकलता है और दु:ख दूर करके पुन: अपने शरीर में प्रवेश करता है। उसे 'शुभ तैजस' कहते हैं। (२) अनिष्टकारक पदार्थों को देखकर मुनियों के मन में क्रोध उत्पन्न होने से उनके बायें कंधे से बिलाव के आकार का और सिन्दूरी रंग का पुतला निकलता है। वह जिस पर क्रोध हुआ हो, उसका नाश करता है और साथ ही साथ उस मुनि का भी नाश करता है। इसे 'अशुभ तैजस' कहते हैं।

६. आहारक ह्न छठे गुणस्थानवर्ती परम ऋद्धिधारी किसी मुनि के तत्त्वसम्बन्धी शंका उत्पन्न होने पर अपने तपोबल से मूल शरीर को छोड़े बिना मस्तक में से एक हाथ जितना पुरुषाकार सफेद ओर शुभ पुतला निकलता है। वह केवली या श्रुतकेवली के पास जाता है। वहाँ उनका चरणस्पर्श होते ही अपनी शंका निवारण करके पुन: अपने स्थान में प्रवेश करता है।

७. केवलि ह्न केवलज्ञान उत्पन्न होने के बाद मूल शरीर को छोड़े बिना दंड, कपाट, प्रतर और लोकपूरण क्रिया करते हुए केवली के आत्मप्रदेशों का फैलना। केवली समुद्घात सभी केवलियों के नहीं होता, किन्तु जिन्हें केवलज्ञान उत्पन्न होने के बाद छह मास नहीं हुए हों उन्हें, तथा छह मास के बाद भी चार अघातीय कर्मों में से आयुकर्म की स्थिति अल्प हो तो उन्हीं को नियम से समुद्घात होता है।

भावार्थ ह्न १) जीव का स्वक्षेत्र ह्न प्रत्येक जीव लोकाकाश जितना असंख्यात प्रदेशी है। प्रदेशों* को वह संख्या त्रिकाल उतनी ही रहती है, क्योंकि वह स्वचतुष्टय से सदा एक अखण्ड द्रव्य है। क्योंकि जीव अखण्ड द्रव्य है, इसलिए उसके खण्ड, छेदन, टुकड़ा कदापि नहीं हो सकते। सभी मूल द्रव्य अखण्ड हैं। (पुद्गल स्कन्धों का स्वभाव ही अपनी योग्यता से स्वकाल में छेदन–भेदन, टुकड़ारूप होने का है।) प्रत्येक द्रव्य पृथक् है, इसलिए जीव के स्वक्षेत्र में अन्य कोई द्रव्य प्रवेश नहीं कर सकता और जीव भी पर क्षेत्र में अर्थात् शरीर में नहीं घुस सकता। हाँ, जीव और शरीर का सम्बन्ध 'एकक्षेत्रावगाह सम्बन्ध' है।

२) प्रदेशत्व गुण ह्न प्रत्येक द्रव्य के प्रदेशत्व गुण होता है, क्योंकि वह एक सामान्य गुण है। जिस शक्ति के कारण द्रव्य का कोई न कोई आकार अवश्य हो, उसे प्रदेशत्व गुण कहते हैं। इस गुण के कारण जीव का प्रति

* प्रदेश का स्वरूप गाथा २७ में दिया गया है।

https://AtmaDharma.com & https://AtmaDharma.org

समय अपना आकार होता है। जीव के प्रदेश लोक-प्रमाण असंख्यात (संख्यापेक्षा से) ही रहते हैं, किन्तु संसार दशा में वे प्रदेश अपने कारण से संकोच-विस्तार को प्राप्त होते हैं। संसार दशा में जीव का आकार एक-सा नहीं रहता[१]। अपने संयोगरूप जो शरीर होता है, उसके आकारानुसार जीव का अपना आकार अपने कारण से (समुद्घात-प्रसंग के काल को छोड़कर) होता है। सिद्ध दशा में कैसा आकार होता है, यह १४ और १५ वीं गाथा में कहा गया है।

३) नय ह्न जीव के जो असंख्यात प्रदेश हैं, उनकी वह संख्या उतनी की उतनी ही रहती है, किसी भी समय एक भी प्रदेश कम-बढ़ नहीं होता, और वह दूसरे द्रव्य के प्रदेशों के साथ भी एकमेक नहीं हो सकता। उन प्रदेशों की संख्या निश्चित (वास्तविक) है, इसलिए वह निश्चयनय[२] का विषय है। और जीव के प्रदेशों का आकार (संसार में शरीर के सम्बन्ध से होता है) इसलिए व्यवहारनय[३] से शरीराकार कहा जाता है। इससे यह नहीं समझना चाहिए कि जीव का आकार शरीराकाररूप हो जाता है, वह तो निजरूप ही रहता है।

तात्पर्य ह्न पौद्गलिक देह के साथ जीव को निजत्व की ह्न अपनेपन की मान्यता अनादि से है, और इसलिए वह संसार में परिभ्रमण करता हुआ दु:खी हो रहा है। इसलिए देहादिक का ममत्व छोड़कर निर्मोह निज शुद्धात्मा की भावना[४] कर्त्तव्य है।।१०।।

---

१. इसलिए जीव का संस्थान अनिर्दिष्ट है ह्न ऐसा कहा गया है। देखिए समयसार गाथा ४९, इस सम्बन्ध में देखिए पंचास्तिकाय गाथा ६३-६५ की टीका, पृष्ठ १०७-१०८

२. यह नय प्रमाणज्ञान करने के लिए अर्थात् वस्तुस्वरूप (प्रदेशसम्बन्धी) समझने के लिए है। धर्मपरिणति प्रगट करने के लिए तो एक अपना ज्ञायकस्वभाव ही आश्रय करने योग्य है। संसारी दशा में दोनों का विषय साथ ही रहता है।

३. शरीर परपदार्थ है, इसलिए उसके आकार के साथ का सम्बन्ध बताना अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय है। देखिए बहद् द्रव्यसंग्रह, पृष्ठ ३० (जयपुर से प्रकाशित)

४. बृहद् द्रव्यसंग्रह गाथा १० की टीका, पृष्ठ ३०

७. संसारित्व अधिकार

पुढविजलतेयवाउ वणप्फदी विविहथावरेइंदी।
विगतिगचदुपंचक्खा तसजीवा होंति संखादी।।११।।
भूजलानलवनस्पति अर वायु थावर जीव हैं।
दो इन्द्रियों से पाँच तक शंखादि सब त्रस जीव हैं।।११।।

अन्वयार्थ ह्न (पुढविजलतेयवाउ वणप्फदी) पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति **(विविहथावरेइंदी)** अनेक प्रकार के स्थावर एकेन्द्रिय जीव और **(संखादी)** शंख इत्यादि **(विगतिगचदुपंचक्खा)** दो इंद्रिय, त्रिन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय **(त्रसजीवा:)** ये त्रस जीव हैं।

भावार्थ ह्न १) संसारित्व ह्न जीवों की दो अवस्थाएँ हैं ह्न १. सिद्ध और २. संसारी। सिद्ध जीव परिपूर्ण सुखी हैं। संसारी में जो अज्ञानी हैं, वे अपनी मिथ्या मान्यता के कारण चारों गतियों में परिपूर्ण दु:खी हैं। वे परपदार्थ[१] में इष्ट-अनिष्ट बुद्धि करते हैं। वे अनुकूल बाह्य पदार्थों में सुख और प्रतिकूल पदार्थों में दु:ख मानते हैं और इसलिए इन्द्रियसुख व परपदार्थ में दु:ख होते हुए भी उसे प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करते हैं और दु:खी होते हैं। साधक जीव अपनी शुद्धतानुसार सुखी हैं। केवली भगवान[२] परिपूर्ण सुखी हैं।

प्रश्न : यदि जीव की सिद्ध दशा न मानी जाए तो ?

उत्तर : तो जीव को संसारी दशा सिद्ध नहीं होगी। उन्हें 'संसारी' विशेषण किन्हीं अन्य जीवों से भिन्न बताने के लिए ही लगाया जाता है। यदि असंसारी (सिद्ध) जीव न हों तो जीवों की संसारी अवस्था साबित नहीं होगी। संसारी दशा का प्रतिपक्ष भाव सिद्ध दशा है। यदि जीव के संसार दशा ही नहीं होगी तो फिर धर्म करने और अधर्म को दूर करने का पुरुषार्थ ही नहीं रहेगा।

---

१. वास्तव में कोई परपदार्थ इष्ट-अनिष्ट नहीं हैं, वे सब ज्ञेय मात्र हैं। अपनी अज्ञान दशा अनिष्ट और ज्ञानदशा इष्ट है। किन्तु अज्ञानी इससे विपरीत मानता है।

२. केवली भगवान असिद्धभाव के कारण संसारी हैं। इस भाव का अभाव होने पर वे सिद्ध होते हैं।

https://AtmaDharma.com & https://AtmaDharma.org

२) संसारी जीवों के भेद ह्व संसारी जीवों के दो भेद हैं ह्व १. स्थावर, २. त्रस। सभी एकेन्द्रिय जीव स्थावर जीव हैं, उनके ५ प्रकार हैं ह्व पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय। दो इन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक के जीव त्रसकाय हैं। शास्त्रकथित यह काय, इन्द्रियाँ या मन पुद्गल की पर्यायें हैं, जीव नहीं। किन्तु उनमें रहने वाला जो ज्ञान है, वह जीव है ह्व ऐसा समझना चाहिए।

३) अन्य प्रकार से जीव के भेद[१] ह्व जीवतत्त्व सामान्यतया एक प्रकार से है। बद्ध और मुक्त यों दो प्रकार से है। और अब जीवों के ३ प्रकार के भेद कहे जा रहे हैं ह्व

१. असिद्ध, नो सिद्ध, सिद्ध। यहाँ 'नो' का अर्थ अल्प है। चौथे गुणस्थान से जीव को 'नो सिद्ध' कहा जाता है।

२. मिथ्यादृष्टि असिद्ध, सम्यग्दृष्टि ईषत् सिद्ध, पूर्ण रत्नत्रय प्राप्त सिद्ध।

४) नय ह्व जीवों से सम्बन्धित नय १३ वीं गाथा में दिए गए हैं।

तात्पर्य ह्व विशुद्धज्ञान-दर्शन स्वभाव निजपरमात्मस्वरूप की भावना से उत्पन्न पारमार्थिक सुख से अज्ञात होने के कारण जीव इन्द्रियसुख में रुचिपूर्वक आसक्त होकर एकेन्द्रियादि जीवों का वध करता है। इसलिए वह त्रस-स्थावर होता है। इसलिए उसके नाश के लिए निज परमात्मा की भावना[२] कर्त्तव्य है, ऐसा समझना चाहिए।।११।।

७. चौदह जीवसमास*

समणा अमणा णेया पंचेंदिय णिम्मणा परे सव्वे।
बाहरसुहुमेइंदी सव्वे पज्जत्त इदरा य।।१२।।
पंचेन्द्रियी संज्ञी-असंज्ञी शेष सब असंज्ञि ही हैं।
एकेन्द्रियी हैं सूक्ष्म-बादर पर्याप्तकेतर सभी हैं।।१२।।

अन्वयार्थ ह्व (पंचेंदिय) पंचेन्द्रिय जीव **(समणा)** मनसहित और

१. तत्त्वार्थसार, द्वितीयाधिकार, गाथा २३४, पृष्ठ ८९-९०
२. बृहद् द्रव्यसंग्रह गाथा ११, पृष्ठ ३४ (जयपुर से प्रकाशित)
* जिसके द्वारा अनेक प्रकार के जीव के भेद जाने जा सके, उसे जीवसमास कहते हैं।

(अमणा) मनरहित **(णेया)** जानना चाहिए। और **(परे सव्वे)** शेष सब **(णिम्मणा)** मनरहित जानना चाहिए। उनमें **(एइंदी)** एकेन्द्रिय जीव **(बाहरसुहमा)** बादर और सूक्ष्म यों दो प्रकार के हैं **(सव्वे)** और वे सब **(पज्जत्त)** पर्याप्त **(य)** और **(इदरा)** अपर्याप्त होते हैं।

भावार्थ ह्व १) पंचेन्द्रिय जीव के २ भेद हैं ह्व संज्ञी और असंज्ञी। एकेन्द्रिय जीव के भी २ भेद हैं ह्व बादर और सूक्ष्म। बादर एकेन्द्रिय जीव दूसरों को बाधा देते हैं और स्वयं बाधा को प्राप्त होते हैं। वे किसी पदार्थ के आधार से रहते हैं। सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव समस्त लोकाकाश में फैले हुए हैं। वे किसी को बाधा नहीं पहुँचाते और स्वयं किसी से बाधा को प्राप्त नहीं होते।

२) दो इंद्रिय, तीन इंद्रिय और चार इंद्रिय जीव पर्याप्त* और अपर्याप्त होते हैं।

चौदह जीवसमास

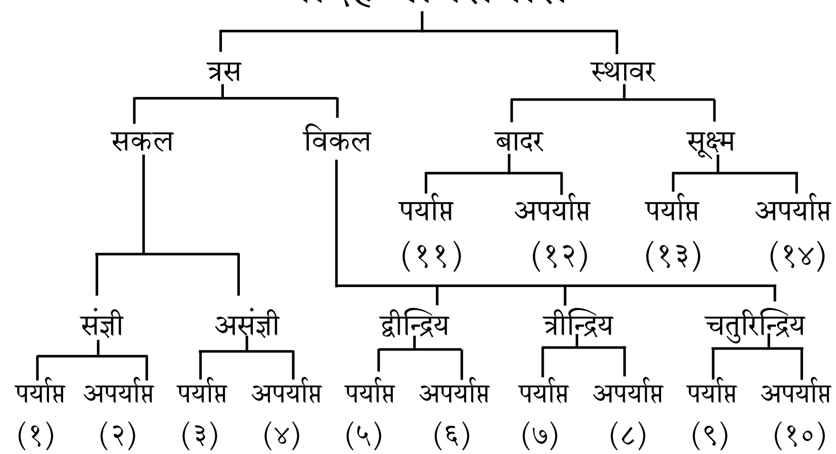

(संज्ञी पर्याप्त और संज्ञी अपर्याप्त इस प्रकार कहना चाहिए, यह १४ जीवसमास हैं।)

* १) जैसे मकान, घड़ा, वस्त्रादि वस्तुएँ पूर्ण और अपूर्ण होती हैं, उसी प्रकार जीव पर्याप्त और अपर्याप्त होते हैं।
२) आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन ये छह पर्याप्तियाँ हैं। एकेन्द्रय जीव के चार, दो इन्द्रिय जीव से असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक के जीवों के पाँच और संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के छह पर्याप्तियाँ होती हैं।
३) बृहद् द्रव्यसंग्रह, गाथा १२, पृष्ठ २७

https://AtmaDharma.com & https://AtmaDharma.org

पर्याप्ति का विवेचन

जीव	पर्याप्ति	संख्या
एकेन्द्रिय ह्न	आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वास	४
विकलेन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय	आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वास, भाषा	५
संज्ञी पंचेन्द्रिय	आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वास, भाषा, मन	६

एक अन्तर्मुहूर्त में पर्याप्ति पूर्ण होती है। अपर्याप्तक जीव एक श्वास में १८ बार जन्म-मरण करता है। निरोग पुरुष की एक बार नाड़ी चलने में जितना समय लगता है, उसे श्वास कहते हैं। ४८ मिनिट में ३७७३ श्वास होते हैं।

तात्पर्य ह्न यह गाथा भी संसारी जीव का स्वरूप बतलाती है। यहाँ यों समझना चाहिए कि पर्याप्तियाँ और प्राण तो पुद्‌गल की पर्यायें हैं, और उसमें जो ज्ञान है सो जीव है। पर्याप्तियों और प्राणों से भिन्न जो निज शुद्धात्म तत्त्व है, वही उपादेय है ह्न ऐसा भावार्थ है।।१२।।

जीव के दूसरे भेद

***मग्गणगुणठाणेहि य चउदसहिं हवंति तह असुद्धणया।**
विण्णेया संसारी सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया।।१३।।

* **चौदह मार्गणाएँ**

गइ इन्द्रियेसु काये जोगे वेदे कसायणाणे य।
संजमदंसणलेस्सा भविया सम्मत्त सण्णि आहारे।।

अर्थ ह्न १. गति (४), २. इन्द्रियाँ (५), ३. काय (६), ४. योग (३), ५. वेद (३), ६. कषाय (२५), ७. ज्ञान (८), ८. संयम (५) ह्न पाँच संयम, एक असंयम और एक संयमासंयम, ९. दर्शन (४), १०. लेश्या (६), ११. भव्यत्व (२), १२. सम्यक्त्व (६), १३. संज्ञित्व (२) और १४. आहार (२) ह्न इस प्रकार १४ मार्गणाएँ हैं।

भवलीन जिय विध चतुर्दश गुणथान मार्गणथान से।
अशुद्धनय से कहे हैं पर शुद्धनय से शुद्ध हैं।।१३।।

अन्वयार्थ ह्न (तह) तथा **(संसारी)** संसारी जीव **(असुद्धणया)** अशुद्धनय से **(मग्गणगुणठाणेहि)** मार्गणास्थान और गुणस्थान की अपेक्षा से **(चउदसहिं)** चौदह-चौदह प्रकार के **(हवंति)** होते हैं। **(सुद्धणया)** और शुद्ध निश्चयनय से **(सव्वे)** सभी संसारी जीव **(हु)** वास्तव में **(सुद्धा)** शुद्ध **(विण्णेया)** जानना चाहिए।

* **गुणस्थानों के नाम और लक्षण ह्न**

मिच्छो सासण मिस्सो अविरदसम्मो य देसविरदो य।
विरदा पमत्त इदरो अपुव्व अणियट्ठ सुहुमो य।।
उवसंत खीणमोहो सजोगकेवलिजिणो अजोगी य।
चउदस गुणठाणाणि य कमेण सिद्धा य णादव्वा।।

१. **मिथ्यात्व ह्न** सच्चे देव-शास्त्र-गुरु और जीवादि तत्त्वों में विपरीत मान्यता; स्व-पर के एकत्व की श्रद्धा; अतत्त्व श्रद्धा।
२. **सासादन ह्न** सम्यक्त्व को छोड़कर मिथ्यात्व की ओर जाना।
३. **मिश्र ह्न** सम्यक्त्व और मिथ्यात्व के परिणामों का एक ही साथ होना।
४. **अविरत सम्यक्त्व ह्न** सम्यक्त्व तो है ही, किन्तु अशक्तिवश किसी प्रकार के निश्चयव्रत और चारित्र को धारण न करे। स्वरूपाचरण चारित्र हो।
५. **देशसंयत ह्न** सम्यक्त्व सहित एकदेश (अंशत:) निश्चय चारित्र का पालन करना।
६. **प्रमत्तसंयत ह्न** सम्यक्‌चारित्र की भूमिका में अहिंसादि शुभोपयोगरूप महाव्रतों का पालन करता है, यह प्रमाद है। (सर्वथा नग्न दिगम्बर दशापूर्वक मुनिपद होता है।)
७. **अप्रमत्तसंयत ह्न** प्रमाद रहित होकर मात्र आत्मस्वरूप में सावधान रहता है।
८. **अपूर्वकरण ह्न** सातवें गुणस्थान से ऊपर अपनी विशुद्धता में अपूर्व रूप से उन्नति करना।
९. **अनिवृत्तिकरण ह्न** आठवें गुणस्थान से अधिक उन्नति करना।
१०. **सूक्ष्मसांपराय ह्न** (सूक्ष्म कषाय) समस्त कषायों का उपशम अथवा क्षय होना और मात्र लोभ कषाय का सूक्ष्मरूप में रहना।
११. **उपशान्त कषाय ह्न** (उपशान्तमोह) कषायों का सर्वथा उपशम हो जाना।
१२. **क्षीणकषाय ह्न** (क्षीणमोह) कषायों का सर्वथा क्षय हो जाना।
१३. **सयोग केवली ह्न** केवलज्ञान प्राप्त होने पर भी योग की प्रवृत्ति होना। (वे सब १८ दोष रहित होते हैं।)
१४. **अयोग केवली ह्न** केवलज्ञान प्राप्त होने के बाद योग की प्रवृत्ति भी बन्द हो जाती है।

https://AtmaDharma.com & https://AtmaDharma.org

भावार्थ ह्न १) भूमिका ह्न बृहद् द्रव्यसंग्रह की इस गाथा की भूमिका में लिखा है कि ह्न ''अब शुद्धपारिणामिक परमभाव ग्राहक शुद्धद्रव्यार्थिक नय से सभी जीव शुद्ध-बुद्ध एक स्वभावमय हैं। पश्चात् अशुद्धनय से चौदह मार्गणास्थान तथा चौदह गुणस्थान सहित होते हैं ह्न ऐसा कथन करते हैं।''

प्रश्न : शुद्ध द्रव्यार्थिक और अशुद्ध नयों के विषय एक ही साथ होने पर भी (प्रथम) शुद्ध द्रव्यार्थिकनय और 'पश्चात्' अशुद्धनय ह्न ऐसा क्यों कहा है?

उत्तर : शुद्ध द्रव्यार्थिकनय का विषय एक ही आश्रय करने योग्य है, क्योंकि उसके आश्रय से जीव के धर्मरूप शुद्ध पर्याय प्रगट होती है और इसलिए दु:ख का अभाव होकर सुखरूप दशा होती है। अशुद्धनय के विषय के आश्रय से जीव के अशुद्धपर्याय प्रगट होती है, इसलिए उसका आश्रय छोड़ने योग्य है, ऐसा बताने के लिए शास्त्रों में शुद्ध द्रव्यार्थिकनय को प्रथम (तावत्) और अशुद्धनयह्न व्यवहारनय को पश्चात् कहा जाता है।*

* समयसार गाथा ७, पृष्ठ १८ टीका जयसेनाचार्य, रायचन्द जैन शास्त्रमाला।

प्रवचनसार (रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला से प्रकाशित) गाथा १९, पृष्ठ ३४, ''तावन्निश्चयेन ..... व्यवहारेण संसारावस्थायां कर्मप्रच्छादितज्ञानसुख: सन् पश्चात् इन्द्रियाधारेण।''

प्रवचनसार गाथा ३४, पृष्ठ ६० ''निश्चयेन शुद्ध: बुद्धैकस्वभावो जीव: पश्चाद् व्यवहारेण नरनारकादिरूपो।''

गाथा ५५ पृष्ठ ९८ ''जीवस्तावत् शक्तिरूपेण शुद्ध: द्रव्यार्थिकनयेन अमूर्त - पश्चात् ...... व्यवहारेण।''

बृहद् द्रव्यसंग्रह गाथा ४, पृष्ठ १५ (जयपुर से प्रकाशित) ''तथाहि आत्मा ++ तावत् पश्चात्।''

बृहद् द्रव्यसंग्रह गाथा ५, पृष्ठ १७। ''आत्माहि निश्चयनयेन ... केवलज्ञानरूपां तावत्।''

बृहद् द्रव्यसंग्रह गाथा १३ की सूचनिका ''शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन शुद्ध.... अपि जीवा: पश्चात् अशुद्धनयेन चतुर्दशमार्गणा: ......''

२) शुद्ध पारिणामिक परमभाव ह्न १. पारिणामिक का अर्थ सहज स्वभाव है। उत्पाद-व्यय रहित ध्रुव एकरूप स्थिर रहने वाला भाव पारिणामिक भाव है। पारिणामिक भाव सभी जीवों के सामान्य होता है। अर्थात् सभी जीव त्रिकाल (अनादि-अनन्त) ध्रुवरूप से ह्न शक्तिरूप से शुद्ध हैं। औदयिक-औपशमिक-क्षायोपशमिक और क्षायिक, इन चारों भावों से रहित जो भाव है, सो पारिणामिक भाव है। (द्रव्य निज को धारण कर रखता है अर्थात् स्वयं विद्यमान रहता है, इसलिए उसे 'परिणाम' कहते हैं।) ऐसे परिणामस्वरूप भाव को पारिणामिक भाव कहा जाता है। इन पाँच भावों में कर्मोपाधि की चार दशाएँ ह्न उदय, उपशम, क्षयोपशम और क्षय जिनका निमित्त कारण है ह्न ऐसे चार भाव हैं। जिसमें कर्मोपाधिरूप निमित्त किंचित् मात्र नहीं है, मात्र द्रव्यस्वभाव ही जिसका कारण है ह्न ऐसा एक पारिणामिक भाव है।

२. यह भाव त्रिकाल शुद्ध और परम है, इसलिए इसे शुद्ध पारिणामिक परम भाव कहते हैं, क्योंकि उसके आश्रय से जीव के शुद्ध पर्याय प्रगट होती है। दूसरे चार भावों को 'अपरम' भाव कहते हैं, क्योंकि उनके आश्रय से जीव के अशुद्ध पर्याय[१] प्रगट होती है।

३. समस्त कर्मरूपी विषवृक्ष को उखाड़ फेंकने में समर्थ ऐसा यह परमभाव त्रिकाल निरावरण है।

३) सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया ह्न (शुद्धनय से सभी जीव वास्तव में शुद्ध हैं।) यहाँ शुद्धनय का अर्थ द्रव्यार्थिक नय है। इस दृष्टि से देखने पर सभी जीव शुद्ध ज्ञायकस्वभाव के धारक हैं, मात्र पर्यायदृष्टि से जीवों की पर्याय में तारतम्य होते हैं, यह बतलाने के लिए यहाँ उसे अशुद्धनय का विषय कहा जाता है। उन पर्यायों को जीव स्वयं स्वत: पर से निरपेक्षतया निश्चयनय से करता है। कर्म का निमित्त

१. इस विषय का विशेष वर्णन श्री पंचास्तिकाय शास्त्र की गाथा ५३ से ६८ और उसकी टीका में तथा मोक्षशास्त्र के अध्याय २, सूत्र १ से ८ और उनकी टीका में किया गया है। वहाँ से देख लेना चाहिए।

https://AtmaDharma.com & https://AtmaDharma.org

होने पर भी कर्म उन्हें कराता नहीं है, इसलिए पर से उसका भेदज्ञान कराने के लिए 'अशुद्धनय' कहा जाता है। और शुद्धनय की अपेक्षा से अशुद्धनय भी व्यवहारनय है ह्व ऐसा समझना चाहिए। इसीलिए श्री समयसार की ५६वीं गाथा में मार्गणास्थान-गुणस्थानादि भावों को व्यवहारनय का विषय[१] कहा है।

४) मार्गणास्थान ह्व जिन-जिन धर्मविशेषों से जीवों का अन्वेषण किया जाता है, उन-उन धर्मविशेषों को मार्गणा कहते हैं। उनके १४ स्थान भेद हैं। उनके नाम हैं ह्व

१. गति, २. इन्द्रिय, ३. काय, ४. योग, ५. वेद, ६. कषाय, ७. ज्ञान, ८. संयम, ९. दर्शन, १०. लेश्या, ११. भव्यत्व, १२. सम्यक्त्व, १३. संज्ञित्व, १४. आहारत्व[२]।

ये सब भगवान परमात्मा के (निज त्रिकाल शुद्धात्मा के) शुद्ध निश्चयनय के बल से नहीं हैं, अपितु अशुद्धनय से हैं।[३]

५) गुणस्थान ह्व मोह और योग के सद्भाव से या अभाव से जीव के श्रद्धा-चारित्र-योग आदि गुणों की तारतम्यतारूप अवस्थाविशेष को 'गुणस्थान' कहते हैं। इसके भी चौदह भेद हैं। यह चौदह भेद भगवान परमात्मा के शुद्ध निश्चयनय के बल से नहीं हैं, किन्तु अशुद्धनय से हैं ह्व ऐसा गाथा का अर्थ समझना चाहिए।

तात्पर्य ह्व जीव तो परमार्थ से चैतन्यशक्तिमात्र है, वह अविनाशी होने से शुद्ध पारिणामिकभाव कहलाता है। वह भाव ध्येय (ध्यान करनेयोग्य) है। किन्तु वह ध्यानरूप नहीं है, क्योंकि ध्यानपर्याय विनश्वर है, और शुद्ध पारिणामिकभाव द्रव्यरूप है, इसलिए वह अविनाशी है, इसलिए वही आश्रय करनेयोग्य है ह्व ऐसा समझना चाहिए।।१३।।

१. श्री रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला ह्व समयसार गाथा ६८ के नीचे श्री जयसेनाचार्यकृत टीका, गाथा ५७, गाथा १०२, गाथा ११३ से ११५, पृष्ठ १७९, गाथा १३७-१३८
२. इसके विशेष वर्णन के लिए देखो इसी १३ वीं गाथा के नीचे का फुटनोट।
३. नियमसार गाथा ४२ की टीका, पृष्ठ ८८

८-९. सिद्धत्व और विस्रसा ऊर्ध्वगमनत्व अधिकार

णिक्कम्मा अट्ठगुणा किंचूणा चरमदेहदो सिद्धा।
लोयग्गठिदा णिच्चा उप्पादवयेहिं संजुत्ता।।१४।।

उत्पादव्ययसंयुक्त अन्तिम देह से कुछ न्यून हैं।
लोकाग्रथित निष्कर्म शाश्वत अष्टगुणमय सिद्ध हैं।।१४।।

अन्वयार्थ ह्व (णिक्कम्मा) ज्ञानावरणादि अष्टकर्म रहित **(अट्ठगुणा)** सम्यक्त्वादि* अष्टगुण सहित **(चरमदेहदो)** अन्तिम शरीर से **(किंचूणा)** कुछ न्यून **(लोयग्गठिदा)** लोक के अग्रभाग में स्थित **(णिच्चा)** ध्रुव अविनाशी **(उप्पादवयेहिं)** उत्पाद और व्यय से **(संजुत्ता)** सहित जीव **(सिद्धाः)** सिद्ध हैं।

भावार्थ ह्व १) सिद्ध भगवान को प्रगट हुए आठ गुण-पर्यायें ह्व यथार्थ में (निश्चय से) सिद्धों के आठ गुण ही नहीं, किन्तु अनन्त गुण (परिपूर्ण शुद्ध पर्यायें) प्रगट हो गए हैं। तथापि आठ गुणों का वर्णन मध्यम रुचि वाले शिष्यों की अपेक्षा से (व्यवहारनय से) किया[१] है।

२) संक्षेपरुचि शिष्यों के प्रति[२] ह्व १. अभेदनय से अनन्तज्ञानादि चतुष्टय, २. अनन्तज्ञान-दर्शन-सुखत्रय, ३. केवलज्ञान-दर्शन दो, ४. साक्षात् अभेदनय

* १. सम्यक्त्व, २. ज्ञान, ३. दर्शन, ४. वीर्य, ५. सूक्ष्मत्व, ६. अवगाहन, ७. अगुरुलघु, ८. अव्याबाध ह्व इन सर्व गुणों की परिपूर्ण शुद्ध पर्यायें सिद्धावस्था में होती हैं। आठ कर्मों का अभाव होता है। व्यवहार से अष्ट गुण और निश्चय से अनन्त गुण सर्व सिद्ध भगवन्तों के होते हैं। प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशबन्ध से मुक्त होकर जीव ऊर्ध्वगमन करता है। संसारी जीव का विग्रहगति के समय विदिशा में न जाकर आकाश के प्रदेशों की श्रेणी के अनुसार शेष छह दिशाओं में गमन होता है।

१. पण्डित हीरालालजी की टीका, द्रव्यसंग्रह, पृष्ठ ४९
२. बृहद् द्रव्यसंग्रह (जयपुर से प्रकाशित), पृष्ठ ५२, प्रवचनसार गाथा ११७, पृष्ठ २४१ में श्री जयसेनाचार्य ने निर्नाम और निर्गोत्र कहा है।

https://AtmaDharma.com & https://AtmaDharma.org

से शुद्ध चैतन्य ही एक गुण, यों संक्षेप रुचि शिष्यों की अपेक्षा से संक्षेप में कहा जाता है।

३) मध्यम रुचि शिष्यों के प्रति[१] ह्न सम्यक्त्वादि आठ गुण मध्यम रुचि शिष्यों की अपेक्षा से कहे जाते हैं। विशेष भेदनय की अपेक्षा से ह्न १. निर्गतित्व, २. निरिन्द्रियत्व, ३. निष्कायत्व, ४. निर्योगत्व, ५. निर्वेदत्व, ६. निष्कषायत्व, ७. निर्नामत्व, ८. निर्गोत्रत्व, ९. निरायुत्व इत्यादि विशेष गुण तथा १. अस्तित्व, २. वस्तुत्व, ३. प्रमेयत्वादि सामान्य गुण ऐसे स्वागम से अविरोध अनन्त गुण जानना चाहिए।

४) आठ गुणों-पर्यायों का संक्षिप्त स्वरूप ह्न

१. केवलज्ञान ह्न तीनलोक-त्रिकालवर्ती समस्त वस्तुगत अनन्त धर्मों को युगपत् विशेष रूप से प्रकाशित करे सो केवलज्ञान है।[२]

२. केवलदर्शन ह्न इन सबको युगपत् सामान्यरूप से प्रकाशित करे सो केवलदर्शन है।

३. अनन्तवीर्य ह्न अनन्त पदार्थों के ज्ञान में खेदरहितत्व सो अनन्तवीर्य है।

४. क्षायिक सम्यक्त्व ह्न समस्त जीवादि तत्त्वों के विषय में विपरीत अभिनिवेश (अभिप्राय) रहित परिणति सो परम क्षायिक सम्यक्त्व[३] है। (इसमें सम्यक्चारित्र और अनन्त सुख का समावेश होता है।)

५. सूक्ष्मत्व ह्न सूक्ष्म अतीन्द्रिय केवलज्ञान का विषय होने से सिद्धों के स्वरूप को सूक्ष्म कहा जाता है, वह सूक्ष्मत्व है।

१. बृहद् द्रव्यसंग्रह, पृष्ठ ५२, प्रवचनसार गाथा ११७, पृष्ठ २४१ में श्री जयसेनाचार्य ने निर्नाम और निर्गोत्र कहा है।

२. प्रवचनसार गाथा १५, पृष्ठ २३,
श्री जयसेनाचार्य समयसार कलश २ भावार्थ, पृष्ठ ४ (केवली अपेक्षित धर्मों को नहीं जानते, ऐसी मान्यता न्यायविरुद्ध है। केवली समस्त रहस्यों को जानते हैं। केवली अमुक को नहीं जानते, ऐसा मानने वाला केवली को (सर्वज्ञ न मानकर) अल्पज्ञ मानता है।)

३. बृहद् द्रव्यसंग्रह (जयपुर से प्रकाशित), गाथा १४, पृष्ठ ५०

६. अवगाहनत्व ह्न जहाँ एक सिद्ध हो वहाँ अनन्त सिद्ध समाविष्ट होते हैं, वह अवगाहनत्व है।

७. अगुरुलघुत्व ह्न जीवों में छोटे-बड़ेपन का अभाव सो अगुरुलघुत्व है।

८. अव्याबाधत्व ह्न किसी से बाधा को प्राप्त न हो सो अव्याबाधत्व है।

५) चरम देह से किंचित् न्यून ह्न तेरहवें गुणस्थान के अन्तभाग में नासिकादि छिद्र पुर जाते हैं और एक चैतन्यघन बिम्ब हो जाता है, इसलिए सिद्धों का आकार चरम (अन्तिम) देह से कुछ न्यून[१] (कम) होता है।

६) लोकाग्रस्थित ह्न १. इस गाथा में और ५१ वीं गाथा में दोनों जगह आत्मा के उपादानकारण का ही कथन किया है। दोनों में से किसी भी गाथा में 'धर्मास्तिकाय के अभाव' का वर्णन किया ही नहीं है, क्योंकि वह तो अभावरूप निमित्तमात्र का ज्ञान है। यह अबाधित नियम है कि जहाँ उपादानकारण होता है, वहाँ उचित निमित्त ही सद्भाव या अभावरूप होता है। इसलिए उपादान कारण कहते ही निमित्तकारण गौणतया (अध्याहाररूप से) आ ही गया। निमित्तकारण वास्तविक कारण नहीं है, वह तो उपचार मात्र है। २. गाथा २ में कथित यह ऊर्ध्वगमन स्वभाव विस्रसा ऊर्ध्वगति है।

७) उत्पाद-व्यय सहित ह्न जो सिद्धत्व हो गया वह बदल कर संसारीपना नहीं हो सकता, किन्तु यदि प्रति समय उत्पाद-व्यय न हो तो द्रव्य के सत्पने का नाश हो जाये, क्योंकि 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' होता है।

तात्पर्य ह्न केवली-सिद्ध भगवान रागादिरूप परिणमित नहीं होते और वे संसार अवस्था को नहीं चाहते, यह श्रद्धान का बल* जानना चाहिए। जैसा

१. बृहद् द्रव्यसंग्रह, पृष्ठ ३८ तथा पण्डित हीरालालजी कृत टीकावाला द्रव्यसंग्रह पृष्ठ ५० [द्रव्यसंग्रह की गाथा ५१ में 'पुरुषाकार' शब्द विशेष बतालाया है, वह अर्थसूचक है (वह यह बतलाता है कि कोई भी द्रव्यस्त्री कभी भी मोक्ष पाने की पात्र नहीं है) सिद्ध भगवान खड्गासन या पद्मासन आकार में होते हैं।]

* मोक्षमार्गप्रकाशक (जयपुर से प्रकाशित), अधिकार ९, पृष्ठ ३२२ (इससे यह भी सिद्ध होता है कि केवली और सिद्ध भगवान जैसा ही निश्चयसम्यक्त्व चौथे गुणस्थान में होता है।)

https://AtmaDharma.com & https://AtmaDharma.org

सात तत्त्वों का श्रद्धान छद्मस्थ को होता है, वैसा ही केवली-सिद्ध भगवान के भी होता है। इसलिए ज्ञानादिक की हीनता-अधिकता होने पर भी तिर्यंचादिक और केवली-सिद्ध भगवान के सम्यक्त्वगुण तो समान ही कहा है। इसलिए सभी जीवों को वैसा श्रद्धान प्रगट करना चाहिए और आगे बढ़ने का प्रयास चालू रखना चाहिए।।१४।।

अजीवद्रव्यों का वर्णन

यद्यपि शुद्ध-बुद्ध एक स्वभाव परमात्मद्रव्य उपादेय है, तथापि हेयरूप अजीवद्रव्यों का भी कथन किया जाता है, क्योंकि हेयतत्त्व का परिज्ञान किए बिना उसका आश्रय छोड़कर उपादेय तत्त्व का आश्रय नहीं किया जा सकता।

अजीव तत्त्व के भेद

अज्जीवो पुण णेओ पुग्गल धम्मो अधम्म आयासं।
कालो पुग्गल मुत्तो रूवादिगुणो अमुत्ति सेसा दु।।१५।।

मूर्त पुद्गल किन्तु धर्माधर्मनभ अर काल भी।
मूर्तिक नहीं हैं तथापि ये सभी द्रव्य अजीव हैं।।१५।।

अन्वयार्थ ह्न (पुण) और **(पुग्गल)** पुद्गल **(धम्मो)** धर्म **(अधम्म)** अधर्म **(आयासं)** आकाश तथा **(कालो)** काल यह **(अज्जीवो)** अजीव द्रव्य **(णेओ)** जानना चाहिए। **(पुग्गल)** पुद्गल द्रव्य **(रूवादिगुणो)** रूपादि गुणवाला **(मुत्तो)** मूर्तिक है **(दु)** और **(सेसा)** शेष द्रव्य **(अमुत्ति)** अमूर्तिक (अरूपी) हैं।

भावार्थ ह्न अजीव का अर्थ ह्न जिन द्रव्यों में जानने-देखने की शक्ति न हो उन्हें अजीव द्रव्य कहते हैं।

अजीव द्रव्य के भेद ह्न अजीव द्रव्य के पाँच भेद हैं ह्न १. पुद्गल, २. धर्म, ३. अधर्म, ४. आकाश, ५. काल। इनमें से पुद्गल मूर्तिक है और शेष चार द्रव्य अमूर्तिक (अरूपी) हैं।

जिसमें स्पर्श, रस, गंध और वर्ण हों वह मूर्तिक है और जिसमें यह न हों वह अमूर्तिक है। ७ वीं गाथा में अमूर्तिक की व्याख्या दी गई है। अमूर्तिक द्रव्यों के इन चार गुणों और उनकी पर्यायों का कोठा (चार्ट) पहले दिया जा चुका है।

तात्पर्य ह्न १. उपादेयभूत अनन्त सुखरूप जीवास्तिकाय से विलक्षण होने के कारण यह हेय तत्त्व है ह्न ऐसा समझना चाहिए। २. इस गाथा के परिज्ञान का फल ऐसा दृढ़ निश्चयात्मक ज्ञान होना है कि परात्मतत्त्व से अजीव द्रव्य भिन्न है, (अर्थात् जीव उसका किसी भी प्रकार से कुछ भी नहीं कर सकता और वे भी जीव का किसी भी प्रकार से कुछ नहीं कर सकते।) ३. पाँच द्रव्यों का स्वकीय-स्वकीय (अपने-अपने) परिणाम से परिणमन होना ही उनका कर्तृत्व है। ४. कर्तृत्व और अकर्तृत्व ऐसे दो सामान्य गुण प्रत्येक द्रव्य में होते हैं। इसलिए यह पाँच द्रव्य स्वयं अपनी पर्यायों के कर्त्ता हैं। कोई भी पदार्थ परद्रव्य तथा पर की पर्याय का कर्ता नहीं हो सकता। ५. कोई भी जीव पुद्गल का कुछ नहीं कर सकता, यह पहले ८ वीं गाथा में कहा जा चुका है।।१५।।

पुद्गलद्रव्य की पर्यायें

सद्दो बंधो सुहुमो थूलो संठाण भेद तम छाया।
उज्जोदादवसहिया पुग्गलदव्वस्स पज्जाया।।१६।।

थूल सूक्ष्म बंध तम संस्थान आतप भेद अर।
उद्योत छाया शब्द पुद्गलद्रव्य के परिणाम हैं।।१६।।

अन्वयार्थ ह्न (सद्दो) शब्द, **(बंधो)** बंध, **(सुहुमो)** सूक्ष्म, **(थूलो)** स्थूल, **(संठाण)** आकार, **(भेद)** खंड **(तम)** अंधकार, **(छाया)** छाया **(उज्जोदादवसहिया)** उद्योत और आतप सहित **(पुग्गलदव्वस्स)** पुद्गल द्रव्य की **(पज्जाया)** पर्यायें हैं।

https://AtmaDharma.com & https://AtmaDharma.org

भावार्थ ह्न १) दश पर्यायें ह्न पुद्गल द्रव्य की शब्द आदि दश[१] पर्यायें हैं।

२) बंध ह्न १. कर्मबंध से पृथग्भूत स्वशुद्धात्मा की भावना से रहित जीव के अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय से द्रव्यबंध है। (अर्थात् सम्यग्ज्ञानी जीव को चौथे गुणस्थान से श्रद्धा की मुख्यता से बंध नहीं है। २. निष्कषाय शुद्धात्मा के ज्ञान से रहित जीवों के जो कर्मवर्गणारूप पुद्गल द्रव्य आता है, उसे द्रव्यास्रव समझना चाहिए। ३. जैसे नेत्र दृश्य पदार्थों के कर्त्ता या भोक्ता नहीं है, मात्र देखते ही हैं, उसी प्रकार ज्ञान अकारक और अवेदक है, और यह बंध-मोक्ष, कर्मोदय तथा निर्जरा को मात्र जानता है।

तात्पर्य ह्न १. पन्द्रहवीं गाथा में जो तात्पर्य कहा है, वह यहाँ भी लागू होता है। २. आस्रव-बंध की ऊपर की व्याख्या श्री समयसार की ७२ वीं गाथा की टीका तथा[२] भावार्थ का अनुसरण करती है ।।१६।।

धर्मद्रव्य का लक्षण

गइपरिणयाण धम्मो पुग्गलजीवाण गमणसहयारी।
तो यं जह मच्छाणं अच्छंता णेव सो णेई ।।१७।।

स्वयं चलती मीन को जल निमित्त होता जिसतरह।
चलते हुए जिय-पुद्गलों को धरमदरव उसीतरह ।।१७।।

१. १. वीणा आदि का स्वर शब्द है। २. लाख और लकड़ी आदि का जुड़ना सो बंध है। ३. इन्द्रियों के द्वारा अग्राह्य सूक्ष्म है। ४. इन्द्रियों के द्वारा ग्राह्य स्थूल है। ५. त्रिकोण, चतुष्कोण, गोल इत्यादि आकार हैं। ६. स्कन्धों का कोई भी भाग खंड है। ७. जो दृष्टि को रोके वह अंधकार है। ८. धूप में मनुष्यादि की छाया तथा दर्पण में मुखादि का दिखना प्रतिबिंब है। ९. चंद्रमा अथवा चंद्रकान्त मणि का प्रकाश उद्योत है। १०. सूर्य अथवा सूर्यकान्त मणि का प्रकाश आतप है।

२. ज्ञानी के आस्रव-बन्ध नहीं हैं ह्न यह कथन इसकी मुख्यता से है कि दर्शनमोह और अनन्तानुबंधी की प्रकृति का बन्ध नहीं होता। अविरति आदि से जो बंध होता है, वह अल्पस्थिति-अनुभागवाला है, दीर्घ संसार का कारण नहीं है, इसलिए उसे प्रधान नहीं माना गया है।

अन्वयार्थ ह्न (गइपरिणयाण) गति में परिणमित **(पुग्गलजीवाण)** पुद्गल और जीवों को **(गमणसहयारी)** चलने में सहायक **(धम्मो)** धर्म द्रव्य है। **(जह)** जैसे **(मच्छाणं)** मछलियों को [चलने में] **(तोयं)** पानी सहायक है। किन्तु **(सो)** वह धर्मद्रव्य **(अच्छंता)** नहीं चलते हुओं को **(णेव णेई)** नहीं चलाता।

भावार्थ ह्न १) गमन ह्न जीव और पुद्गल इन दो द्रव्यों का सामान्य गुण 'सक्रियत्व' है, इसलिए यह दो द्रव्य गमन करते हैं। क्षेत्र से क्षेत्रान्तर गमनरूप परिस्पन्दवाली-चलनवाली क्रिया जिनमें विद्यमान है, वे क्रियावन्त[१] जीव-पुद्गल हैं।

२) गतिनिमित्तता ह्न धर्मास्तिकाय द्रव्य का गतिनिमित्तता विशेष गुण है। इस द्रव्य के अतिरिक्त दूसरे किसी भी द्रव्य में वह नहीं है।

३) एक ही काल में सबको निमित्त ह्न एक ही काल में गतिपरिणत समस्त जीव-पुद्गलों को लोक तक गमन का हेतुत्व धर्म द्रव्य को बतलाता है, क्योंकि ह्न

१. काल और पुद्गल एकप्रदेशी हैं, अत: उनके वह सम्भवित नहीं होता।

२. जीव समुद्घात के अतिरिक्त अन्यत्र लोक के असंख्यातवें भाग मात्र होने से उसके वह सम्भवित नहीं होता।

३. लोक और अलोक की सीमा अचलित होने से आकाश के वह सम्भवित नहीं होता।

४. और विरुद्ध कार्य का हेतु होने से अधर्म के वह संभवित[२] नहीं होता।

४) सहकारी ह्न १. सहकारी का अर्थ निमित्तमात्र है[३]। जैसे सिद्ध भगवान उदासीन हैं, तो भी सिद्धगुणानुराग में परिणत भव्य जीवों को सिद्ध गति के

१. बृहद् द्रव्यसंग्रह (जयपुर से प्रकाशित), पृष्ठ ८८
२. प्रवचनसार (जयपुर से प्रकाशित), गाथा १३३-१३४, पृष्ठ २७४
३. पंचास्तिकाय, गाथा ८४ श्री जयेसनाचार्य की टीका, पृष्ठ १४२। (हिंदी पृष्ठ १४२ में 'निमित्तमात्र' पण्डित हेमराजजी ने कहा है। गाथा ८४ में दो बार, गाथा ८५ में तीन बार 'निमित्तमात्र' शब्द प्रयुक्त हुआ है। (रायचंद्र शास्त्रमाला, आवृत्ति ३)

https://AtmaDharma.com & https://AtmaDharma.org

लिए सहकारी कारण हैं। उसी प्रकार धर्मद्रव्य भी अपने स्वभाव से ही गतिपरिणत जीव-पुद्‌गलों का उदासीन (तथापि गति का) सहकारी[१] कारण है। गाथा में लोकप्रसिद्ध जल और मछली का दृष्टान्त दिया है। २. स्वयमेव गमनादि क्रियारूप प्रवर्तमान जीव और पुद्‌गलों को धर्मास्तिकाय सहकारी कारण है।[२] उसमें उसका कारणत्व इतना ही है कि जहाँ धर्मादि द्रव्य होते हैं, वहीं जीव-पुद्‌गल गमनादि क्रियारूप प्रवर्तित होते हैं।

५) प्रदेश ह्न इस द्रव्य के प्रदेश लोकप्रमाण असंख्यात हैं, और वह एक अखण्ड लोकव्यापी द्रव्य है। (२५ वीं गाथा में यह स्पष्ट किया गया है।)

तात्पर्य ह्न धर्म और अधर्म स्वतन्त्र द्रव्य हैं। यहाँ इनका अर्थ पुण्य-पाप नहीं समझना चाहिए। यद्यपि पाँच द्रव्य जीव के निमित्त हैं, तथापि उसे दु:ख का कारण (निमित्त) जानकर अक्षय अनन्त सुखादि कारण विशुद्ध ज्ञान-दर्शनोपयोग स्वभाव निज परमात्म द्रव्य को ध्येय बनाकर साधक को उसमें अनुष्ठान* करना कर्तव्य है।।१७।।

अधर्मद्रव्य का लक्षण

ठाणजुदाण अधम्मो पुग्गलजीवाण ठाणसहयारी।
छाया जह पहियाणं गच्छंता णेव सो धरई।।१८।।

छाया निमित्त ज्यों गमनपूर्वक स्वयं ठहरे पथिक को।
अधरम त्यों ठहरने में निमित्त पुद्‌गल-जीव को।।१८।।

अन्वयार्थ ह्न (ठाणजुदाण) स्थिर हुए **(पुग्गलजीवाण)** पुद्‌गल और जीव द्रव्यों को **(ठाणसहयारी)** स्थिर रहने में सहकारी **(अधम्मो)** अधर्म द्रव्य है। **(जह)** जैसे **(पहियाणं)** मुसाफिरों को **(छाया)** छाया। किन्तु

१. पंचास्तिकाय, गाथा ८४ श्री जयेसनाचार्य की टीका, पृष्ठ १४२। (हिंदी पृष्ठ १४२ में 'निमित्तमात्र' पण्डित हेमराजजी ने कहा है। गाथा ८४ में दो बार, गाथा ८५ में तीन बार 'निमित्तमात्र' शब्द प्रयुक्त हुआ है।

२. गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा ५६७, बृहत् टीका।

* श्री प्रवचनसार गाथा १३३-१३४, श्री जयसेनाचार्य की टीका, पृष्ठ २७४

(सो) वह अधर्मद्रव्य **(गच्छंता)** चलते हुए जीव और पुद्‌गल द्रव्यों को **(णेव धरई)** कदापि रोक नहीं रखता।

भावार्थ ह्न १) गतिपूर्वक स्थिति ह्न स्वयं गतिपूर्वक स्थितिरूप परिणमित जीव और पुद्‌गलों के स्थिर रहने में जो निमित्त हो, उसे अधर्मास्तिकाय द्रव्य कहते हैं। जैसे मुसाफिर के स्थिर रहने में वृक्ष की छाया। सर्वदा स्थिर रहने वाले धर्मास्तिकाय, आकाश और काल द्रव्य (जो अनादि से स्थिर ही हैं) की स्थिति में अधर्म द्रव्य की निमित्तता नहीं है।

२) स्थितिकारणत्व ह्न अधर्मास्तिकाय द्रव्य का स्थिति कारणत्व[१] विशेष गुण है। इस द्रव्य के अतिरिक्त अन्य किसी द्रव्य में यह गुण नहीं है।

३) एक ही काल में सबका निमित्त ह्न एक ही काल में (गतिपूर्वक) स्थितिपरिणत समस्त जीव-पुद्‌गलों को लोक तक स्थिति का हेतुत्व अधर्म द्रव्य को बतलाता है, क्योंकि ह्न

१. काल और पुद्‌गल एकप्रदेशी हैं, इसलिए उनके वह सम्भव नहीं है।

२. जीव समुद्‌घात को छोड़कर अन्यत्र लोक के असंख्यातवें भाग मात्र होने से उसके वह सम्भव नहीं है।

३. लोक और अलोक की सीमा अचलित होने से आकाश के वह सम्भव नहीं है।

४. और विरुद्ध कार्य का हेतु होने से धर्मद्रव्य के भी वह सम्भव नहीं है।[२]

४) सहकारी ह्न गाथा १७ का पैरा ४ यहाँ भी लागू होता है।[३]

५) प्रदेश ह्न गाथा १७ का पैरा ५ यहाँ भी लागू होता है।

तात्पर्य ह्न १. गाथा १७ का पैरा ६ देखिए। २. यहाँ आशय यह है कि जो द्रव्य गमन का निमित्त है, जो द्रव्य स्थिति का कारण है, और फिर जो द्रव्य सबको स्थान देने में प्रवीण है, उन सबको सम्यक् द्रव्यरूप में अवलोकित

१. प्रवचनसार (जयपुर से प्रकाशित), गाथा ९५, पृष्ठ १७७

२. प्रवचनसार, गाथा १३३-१३४, पृष्ठ २७४

३. पंचास्तिकाय (रायचंद्र शास्त्रमाला), गाथा ८६, पृष्ठ १३६, श्री जयसेनाचार्य की टीका।

https://AtmaDharma.com & https://AtmaDharma.org

करके (यथार्थतया स्वतन्त्र द्रव्य के रूप में समझकर) भव्य समूह सर्वदा निजतत्त्व में प्रवेश करो।[१]

सूत्रार्थ यह है कि जैसे शुद्धात्मस्वरूप में स्थिति का कारण निश्चय से वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदन है और व्यवहार से अरहन्त-सिद्धादि परमेष्ठी के गुणों का स्मरण है, वैसे ही जीव-पुद्‌गलों की स्थिति का निश्चयकारण अपना उपादानकारण है तथा व्यवहारकारण अधर्म द्रव्य है।।१८।।

आकाशद्रव्य का लक्षण

अवगासदाणजोग्गं जीवादीणं वियाण आयासं।
जेण्हं लोगागासं अल्लोगागासमिदि दुविहं।।१९।।

आकाश वह जीवादि को अवकाश देने योग्य जो।
आकाश के दो भेद हैं जो लोक और अलोक हैं।।१९।।

अन्वयार्थ ह्व (जीवादीणं) जीवादि द्रव्यों को **(अवगासदाणजोग्गं)** अवकाशदान के योग्य **(जेण्हं)** जिनेन्द्र भगवान के द्वारा दर्शित **(आयासं)** आकाश द्रव्य **(वियाण)** जानना चाहिए। यह आकाश द्रव्य **(लोगागासं)** लोकाकाश और **(अल्लोगागासं)** अलोकाकाश **(इति)** ऐसे **(दुविहं)** दो प्रकार का है।

भावार्थ ह्व १) अवकाशदान योग्य ह्व षड् द्रव्यात्मक लोक में सभी[२] द्रव्यों को सम्पूर्णतया अवकाश का निमित्त है, वह आकाश है, जो कि विशुद्ध क्षेत्ररूप है।

१. नियमसार, गाथा ३०, श्लोक ४६, पृष्ठ ६३-६५

२. निश्चयनय से नित्य निरंजन ज्ञानमय परमानन्द जिनका लक्षण है, ऐसे अनन्तानन्त जीव, उनसे अनन्तगुने पुद्‌गल, असंख्य कालाणु और असंख्यातप्रदेशी धर्म तथा अधर्म ह्व ये सभी द्रव्य विशिष्ट अवगाहन द्वारा लोकाकाश में (यद्यपि लोकाकाश तो मात्र असंख्यात प्रदेशी है, तथापि) अवकाश प्राप्त करते हैं। (पंचास्तिकाय (रायचंद्र शास्त्रमाला, गाथा ९०, पृष्ठ १५०)।

२) एक ही काल में सर्व द्रव्यों का अवगाहन ह्व एक[१] ही काल में सर्व द्रव्यों को साधारण अवगाह की निमित्तभूतता आकाश को बतलाती है; क्योंकि शेष द्रव्य सर्वव्यापक नहीं हैं, इसलिए उनके वह सम्भव नहीं है।

३) सर्वव्यापी ह्व १. आकाश एक सर्वव्यापी अखण्ड द्रव्य है, किन्तु उसमें धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय द्रव्यों के होने से आकाश के लोकाकाश और अलोकाकाश ह्व ऐसे दो भेद हो जाते हैं। यदि लोक में धर्म-अधर्म द्रव्य नहीं होते तो लोक-अलोक ह्व ऐसे दो भेद नहीं पड़ते[२]। (देखो आगामी गाथा २०)। इस आकाश के बीचोबीच[३] लोकाकाश है, जिसमें जीवादि पदार्थ रहते हैं। २. सिद्ध भगवान या किसी द्रव्य में ऐसी शक्ति नहीं है कि जो लोकाकाश के विस्तार को बढ़ा सके और अलोकाकाश को कम कर सके। (प्रत्येक द्रव्य में अकर्तृत्व गुण होने से पर का कोई कुछ नहीं कर सकता। यदि करे तो दोनों द्रव्यों का नाश हो जाये।)

तात्पर्य ह्व जो गाथा १७-१८ में कहा है, वह यहाँ भी लागू होता है। शुद्धबुद्ध एकस्वभाव शुद्ध जीवास्तिकाय मोक्ष का कारण है। इसलिए सर्व प्रकार से उपादेयरूप शुद्ध जीवास्तिकाय से आकाश द्रव्य भिन्न है, इसलिए वह हेय है।।१९।।

लोकाकाश और अलोकाकाश का लक्षण

धम्माधम्मा कालो पुग्गलजीवा य संति जावदिये।
आयासे सो लोगो तत्तो परदो अलोगुत्तो।।२०।।

काल धर्माधर्म जिय पुद्‌गल रहें जिस क्षेत्र में।
वह क्षेत्र ही बस लोक है अवशेष क्षेत्र अलोक है।।२०।।

१. प्रवचनसार, गाथा १३३-१३४, टीका, पृष्ठ २७४

२. पंचास्तिकाय, गाथा ८७, टीका, पृष्ठ १३८

३. बृहद् द्रव्यसंग्रह, पृष्ठ ६७

https://AtmaDharma.com & https://AtmaDharma.org

अन्वयार्थ ह्न (जावदिये) जितने **(आयासे)** आकाश में **(धम्माधम्मा)** धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, **(कालो)** कालद्रव्य, **(य)** और **(पुग्गलजीवा)** पुद्गल द्रव्य तथा जीव द्रव्य **(संति)** रह रहे हैं **(सो)** वह **(लोगो)** लोकाकाश* कहलाता है। **(तत्तो)** उस लोकाकाश से **(परदो)** परे-बाहर **(अलोग)** अलोकाकाश **(उत्तो)** कहलाता है।

भावार्थ ह्न १) लोकाकाश-अलोकाकाश ह्न १. जितने स्थान में सभी द्रव्य मालूम हों वह लोकाकाश है। और लोकाकाश के बाहर जो केवल आकाश है, वह अलोकाकाश है। २. लोक के ३ भाग हैं ह्न ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक और अधोलोक। इन्हीं को तीन लोक कहते हैं और यही लोकाकाश है। इससे बाहर अनन्त अलोकाकाश है।

२) लोक अनादिनिधन है ह्न १. यह लोक अनादि-अनन्त है। इसे किसी पुरुष ने बनाया नहीं है। इसका कोई नाश नहीं कर सकता। इसे किसी ने न तो धारण किया है और न कोई इसकी रक्षा करता है। २. इस लोक में जो जीवादि पदार्थ[1] हैं, वे पृथक्-पृथक् अनादिनिधन हैं। उनकी अवस्था का परिवर्तन होता रहता है, इस अपेक्षा से उन्हें उत्पन्न होने वाला और विनाश होने वाला कहते हैं। जो स्वर्ग, नरक, द्वीपादि हैं, वे अनादि काल से ऐसे ही हैं और सदैव ऐसे ही रहेंगे। जीवादिक और स्वर्गादिक स्वयंसिद्ध हैं। संसार में जो जीव हैं, वे ही यथार्थ ज्ञान के द्वारा मोक्षमार्ग-साधन करके सर्वज्ञ-वीतराग होते हैं, तब उन्हें परब्रह्म कहा जाता है। कोई अलग से इस जगत् का कर्ता परब्रह्म नहीं है।

३) अल्प प्रमाण वाले लोकाकाश में अनन्त द्रव्य कैसे रह सकते हैं?

* 'यह पुण्यपापफललोकनं स लोक:' ह्न जहाँ पुण्य और पाप के सुख और दु:खरूप फल देखे जाते हैं, उसे लोक कहते हैं। वह जीव में पाया जाता हे। जीव द्रव्य लोकाकाश में ही रहता है। अथवा 'लोक्यन्ते-दृश्यन्ते जीवादिपदार्था: यत्र स लोक:' ह्न जहाँ जीवादि द्रव्य देखे जाते हैं, उसे लोक कहते हैं।

१. मोक्षमार्गप्रकाशक (जयपुर से प्रकाशित), अध्याय ५, पृष्ठ ११०

प्रश्न : इस[1] असंख्यात प्रदेशी लोकाकाश में अनन्त जीव रहते हैं, उससे अनन्तगुने पुद्गल रहते हैं। लोकाकाश के असंख्य प्रदेशों के बराबर असंख्यात कालाणु रहते हैं तथा समस्त लोकाकाश में धर्म और अधर्म द्रव्य भी व्याप्त हैं, तब फिर इस अल्प प्रमाण वाले लोकाकाश में इतने अनन्त द्रव्य कैसे रह सकते हैं?

उत्तर : १. जैसे एक दीपक के प्रकाश में अनेक दीपकों का प्रकाश समा जाता है। २. जैसे एक गूढ़ रसविशेष से भरे हुए शीशे के पात्र में बहुत-सा सुवर्ण अवकाश प्राप्त करता है। ३. जैसे दूध के भरे हुए घड़े में उतने ही प्रमाण में राख और सुइयाँ बराबर समा जाती हैं, उसी प्रकार आकाश-द्रव्य की विशिष्ट अवकाशदान शक्ति से उपरोक्त अनन्त द्रव्य भी लोकाकाश में समा जाते हैं, उनके रहने में कोई बाधा नहीं आती।

आकाश द्रव्य स्वयं अमूर्त है, इसलिए अमूर्त में अनन्त अमूर्त जीव तथा धर्म-अधर्म द्रव्य एवं कालाणु (जो अमूर्त हैं, वे) निराबाध अवकाश प्राप्त करते हैं। पुद्गल भी दो प्रकार के हैं ह्न सूक्ष्म और स्थूल। अनन्त-बहुभाग पुद्गल सूक्ष्म रूप में ही आकाश में व्याप्त हैं। जो अल्प भाग में स्थूल पुद्गलस्कंध हैं, वे लोकाकाश में समा सकते हैं।

४) अवकाशदान न मानने में दोष ह्न यदि इस प्रकार की अवकाश-दान की शक्ति न हो तो लोक के असंख्यात प्रदेशों में असंख्यात परमाणुओं का ही निवास हो, और यदि ऐसा हो तो समस्त जीव जैसे शुद्ध निश्चय से शक्तिरूप से निरावरण तथा शुद्धबुद्ध एक स्वभाव के धारक हैं, वैसे ही व्यक्तिरूप से व्यवहार नय से भी हो जाएँगे, किन्तु ऐसा नहीं है; क्योंकि ऐसा मानने में प्रत्यक्ष और आगम का विरोध है।

तात्पर्य ह्न इस प्रकार[2] यथार्थ श्रद्धान द्वारा सब पदार्थों को अकृत्रिम,

१. बृहद् द्रव्यसंग्रह, पृष्ठ ५२, पण्डित हीरालालजी कृत द्रव्यसंग्रह, पृष्ठ ६६-६७
२. मोक्षमार्गप्रकाशक (जयपुर से प्रकाशित), अध्याय ५, पृष्ठ ११०

https://AtmaDharma.com & https://AtmaDharma.org

पृथक्-पृथक् अनादिनिधन मानना चाहिए। यदि जीव निरर्थक भ्रम द्वारा सत्य-असत्य का निर्णय न करे तो वह जाने, क्योंकि अपने श्रद्धान का फल वही प्राप्त करता है।।२०।।

कालद्रव्य का लक्षण व भेदों का स्वरूप

दव्वपरिवट्टरूवो जो सो कालो हवेइ ववहारो।
परिणामादीलक्खो वट्टणलक्खो य परमट्ठो।।२१।।

परीवर्तनरूप परिणामादि लक्षित काल जो।
व्यवहार वह परमार्थ तो बस वर्तनामय जानिये।।२१।।

अन्वयार्थ ह्न (जो) जो **(दव्वपरिवट्टरूवो)** द्रव्य परिवर्तन में मिनट, घण्टा, दिन, महीना इत्यादि रूप है और **(परिणामादीलक्खो)** परिणमन आदि लक्षणों से जाना जा सकता है। **(सो)** वह **(ववहारो कालो)** व्यवहार काल **(हवेइ)** है। **(य)** और **(वट्टणलक्खो)** वर्तना लक्षण वाला **(परमट्ठो)** परमार्थ काल है।

भावार्थ ह्न १) व्यवहारकाल-निश्चयकाल ह्न 'समय'* नामक जो क्रमिक पर्याय है, वह व्यवहारकाल है और उसका आधारभूत द्रव्य निश्चयकाल है।

२) काल सम्बन्धी ज्ञान कराने के लिए कथनपद्धति ह्न

१. व्यवहारकाल निश्चयकाल की पर्याय है। (वह वास्तव में अपने द्रव्य से ही उत्पन्न होती है) फिर भी वह जीव-पुद्गलों के परिणमन से नापे जाने तथा ज्ञात होने के कारण जीव-पुद्गलों के परिणमन से उत्पन्न हुआ कहा जाता है। (व्यवहारकाल को सिद्ध करने के लिए ही ऐसा कहने की शास्त्र-पद्धति है।)

२. जीव-पुद्गलों के परिणाम बहिरंगद्रव्यभूत द्रव्यकाल के सद्भाव में उत्पन्न होते हैं, इसलिए वे द्रव्य काल से उत्पन्न हुए कहे जाते हैं। (निश्चय

* पंचास्तिकाय (जयपुर से प्रकाशित), गाथा १०० की टीका, पृष्ठ १५३

काल की सिद्धि करने के लिए ही कहने की शास्त्र-पद्धति है, वास्तव में वह परिणाम तो अपने उपादानकारण से होता है।)

३) काललब्धि के वश ह्न **प्रश्न :** 'जीव काललब्धि के वश अनन्त सुख का भाजन होता है' जहाँ ऐसा कथन हो, वहाँ क्या अर्थ करना चाहिए ?

उत्तर : १. यह कथन कालद्रव्य के निमित्तत्व की सिद्धि करने के लिए होता है, इसलिए वहाँ (उपरोक्त पैरा नं. २ में कथित पद्धति से) कालद्रव्य से उत्पन्न हुआ कहा जाता है। २. विशुद्ध ज्ञान-दर्शनस्वभावी निजपरमात्मतत्त्व के सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान-अनुष्ठान, बहिर्द्रव्यइच्छानिवृत्ति लक्षण, तपश्चरणरूप अर्थात् निश्चय चतुर्विध आराधना उपादानकारण से सुख प्राप्ति होती है, काल से नहीं ह्न ऐसा समझना चाहिए। काल तो हेय* है (काललब्धि हेय है)।

४) उपादान कार्यरूप परिणमित हो तो काल निमित्त कहलाता है, यदि परिणमित न हो तो नहीं कहलाता ह्न

१. समस्त विकल्परहित वीतराग चारित्र ही त्रिकाल मुक्ति का कारण है।[1] उसके अभाव में काल मुक्ति का सहकारी कारण भी नहीं होता, इसलिए वह हेय है।

२. इसलिए ऐसा समझना चाहिए कि निमित्तकारण हेय है और जहाँ उपादानकारण होता है, वहीं निमित्तकारण का उपचार उचित पदार्थ पर आ

* बृहद् द्रव्यसंग्रह गाथा (जयपुर से प्रकाशित) २१, पृष्ठ ६९। उपरोक्तानुसार कथन अन्य शास्त्रों में भी है। जैसे श्री रायचन्द्र शास्त्रमाला-पंचास्तिकाय पृष्ठ ४२, पृष्ठ १९०, पृष्ठ २१७ (अपना उपादानकारण-उपादेय है और काल (लब्धि) हेय है) मोक्षपाहुड गाथा २४ में 'कालादि लब्धि' भगवान कुन्दकुन्दाचार्य ने तथा स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा में गाथा १८८, २१९, २४४, ३२१ से ३२३-४१८ में प्रयुक्त किया है, वहाँ भी उपरोक्तानुसार ही अर्थ करना चाहिए।

१. बृहद् द्रव्यसंग्रह गाथा २२, पृष्ठ ७३। वीतराग चारित्र के साथ अविनाभाव रूप से निश्चय सम्यक्त्व होता है। मोक्षप्राभृत की गाथा ८८ में कहा है कि ''अधिक कथन क्या करें ? जो श्रेष्ठ पुरुष भूतकाल में सिद्ध हुए हैं, वर्तमान में हो रहे हैं और भविष्य में होंगे, वह सब सम्यक्त्व की महिमा है।''

https://AtmaDharma.com & https://AtmaDharma.org

सकता है, उसके बिना कदापि नहीं। इसलिए जिस जीव ने आत्मसन्मुख होकर धर्मपरिणति प्रगट की हो, उसी को काललब्धि का यथार्थ ज्ञान होता है। ऐसा न हो तो वह एकान्त[१] कालवादी है, वह काललब्धि को यथार्थ रूप में नहीं मानता।

५) काललब्धि का मोक्षमार्ग में स्थान ह्न

अनेकान्त सिद्धान्त स्वभाव, पुरुषार्थ, काललब्धि, भवितव्य और कर्मोपशमादि ह्न इन पाँच कारणों का मिलाप (समवाय) प्रति समय एक ही साथ मोक्षमार्ग में होता है, ऐसा श्री जैनधर्म का अनेकान्त सिद्धान्त है।

पूर्वोक्त कारणों में काललब्धि और भवितव्य तो कोई वस्तु नहीं है, किन्तु जिस काल में कार्य बनता है, वही काललब्धि है, तथा जो कार्य हुआ वही भवितव्य है। (अर्थात् आत्मा को उसमें कुछ भी नहीं करना होता है) जो कर्म के उपशमादिक हैं, वे तो पुद्गल की शक्ति हैं, उनका कर्ता-हर्ता आत्मा नहीं है, तथा जो पुरुषार्थपूर्वक उद्यम किया जाता है, वह आत्मा का कार्य है, इसलिए आत्मा को पुरुषार्थपूर्वक (स्वसन्मुख होने का) उद्यम करने का उपदेश देते हैं। जिस कारण से कार्यसिद्धि अवश्य होती है। उस कारणरूप (स्वसन्मुख होने रूप) उद्यम आत्मा करे, वहाँ अन्य कारण तो मिल ही जाते हैं। (उन्हें मिलाने का प्रयत्न नहीं करना पड़ता।) इस प्रकार काललब्धि* निमित्तमात्र है ह्न हेय है, उस ओर की वृत्ति (झुकाव) केवल राग उत्पन्न करती है, इसलिए काललब्धि का आश्रय छोड़कर निज ज्ञानस्वभाव का आश्रय करना चाहिए।

तात्पर्य ह्न जीव आगमभाषा[२] में कालादि लब्धिरूप, अध्यात्म भाषा में शुद्धात्माभिमुख (शुद्धात्मसन्मुख) परिणामरूप स्वसंवेदन प्राप्त करता है, तब

१. गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गाथा ८७९
* मोक्षमार्गप्रकाशक (जयपुर से प्रकाशित), अध्याय ९, पृष्ठ ३०९
२. पंचास्तिकाय गाथा १५०-१५१, श्री जयसेनाचार्य टीका, पृष्ठ २१७

मिथ्यात्वादि सात प्रकृतियों का उपशम होता ही है। समय[१], निमिष, काष्ठा, कला, घड़ी आदि भेद व्यवहारकाल के हैं, परन्तु शुद्ध एक निरुपम तत्त्व को छोड़कर उस काल से मुझे कोई लाभ नहीं है। (ऐसा निश्चय करना चाहिए।) जहाँ कोई भी निमित्त या उपादानकारण कहा हो वहाँ पाँचों कारण होते हैं, ऐसा अर्थ करना ही सच्चा स्याद्वाद (नयवाद)[२] है।।

निश्चयकाल का विशेष लक्षण

लोयायासपदेसे इक्केक्के जे ठिया हु इक्केक्का।
रयणाणं रासी इव ते कालाणू असंखदव्वाणि।।२२।।

जानलो इस लोक के जो एक-एक प्रदेश पर।
रत्नराशिवत् जड़े वे असंख्य कालाणु दरव।।२२।।

अन्वयार्थ ह्न (इक्केक्के) एक-एक **(लोयायासपदेसे)** लोकाकाश के प्रदेश पर **(जे)** जो **(इक्केक्का)** एक-एक **(कालाणू)** कालाणु **(रयणाणं)** रत्नों की **(रासी इव)** राशि की भाँति **(हु)** पृथक्-पृथक् **(ठिया)** रहते हैं **(ते)** वे कालाणु **(असंखदव्वाणि)** असंख्य द्रव्य हैं।

भावार्थ ह्न लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश पर रत्नों की राशि की भाँति पृथक्-पृथक् कालाणु रहते हैं। जैसे रत्नों का ढेर करने पर प्रत्येक रत्न अलग-अलग रहता है, उसी प्रकार लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश पर एक-एक कालाणु अलग-अलग है। लोकाकाश के प्रदेश असंख्यात हैं, इसलिए कालद्रव्य भी असंख्यात द्रव्य हैं। इन कालाणुओं के निमित्त से सभी द्रव्यों की अवस्था बदलती है।।२२।।

१. नियमसार गाथा ३१, कलश ४७, पृष्ठ ६५-६७
२. समयसार नाटक (बनारसीदासजी-जयपुर से प्रकाशित) सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार, श्लोक ४२, पृष्ठ २६२, ('एक में अनेक खोजे सो सुदृष्टि है') तथा ''इन पाँच को सर्वांगी मानना सो शिवमार्ग है'' ह्न ऐसा कहा है।

https://AtmaDharma.com & https://AtmaDharma.org

द्रव्यों का उपसंहार और अस्तिकाय

एवं छब्भेयमिदं जीवाजीवप्पभेददो दव्वं।
उत्तं कालविजुत्तं णायव्वा पंच अत्थिकाया दु।।२३।।

इसतरह ये छह दरव जो जीव और अजीवमय।
कालबिन बाकी दरव ही पंच अस्तिकाय हैं।।२३।।

अन्वयार्थ ह्न (एवं) इसप्रकार **(जीवाजीवप्पभेददो)** जीव और अजीव के प्रभेदों से **(इदं)** यह **(दव्वं)** द्रव्य **(छब्भेयं)** छह प्रकार **(उत्तं)** कहे गये हैं। **(दु)** उनमें **(कालविजुत्तं)** कालद्रव्य को छोड़कर **(पंच अत्थिकाया)** पाँच अस्तिकाय **(णायव्वा)** जानना चाहिए।

भावार्थ ह्न द्रव्य के मुख्य दो भेद हैं ह्न जीव और अजीव। अजीव के पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ऐसे पाँच भेद हैं। कुल छह द्रव्य हैं, इनमें से काल को छोड़कर शेष पाँच द्रव्य 'अस्तिकाय' कहे जाते हैं।।२३।।

अस्तिकाय काय लक्षण

संति जदो तेणेदे अत्थीति भणंति जिणवरा जम्हा।
काया इव बहुदेसा तम्हा काया य अत्थिकाया य।।२४।।

कायवत बहुप्रदेशी हैं इसलिए तो काय हैं।
अस्तित्वमय हैं इसलिए अस्ति कहा जिनदेव ने।।२४।।

अन्वयार्थ ह्न (जदो) क्योंकि **(एदे)** यह पाँच अस्तिकाय **(संति)** हैं **(तेण)** इसलिए **(जिणवरा)** जिनेन्द्र भगवान **(अत्थि)** 'अस्ति' **(इति)** ऐसा **(भणंति)** कहते हैं। **(जम्हा)** क्योंकि **(काया इव)** काय की भाँति **(बहुदेसा)** बहुप्रदेशी हैं **(तम्हा)** इसलिए **(काया)** वे 'काय' कहलाते हैं। **(य)** और वे एकत्रित होकर **(अत्थिकाया)** 'अस्तिकाय' कहलाते हैं।

भावार्थ ह्न जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश ह्न यह पाँच द्रव्य हैं। इन्हें 'अस्ति' कहा जाता है और यह काय की भाँति बहुप्रदेशी हैं, इसलिए

इन्हें 'काय' कहते हैं। इस कारण से यह पाँच द्रव्य 'अस्तिकाय' हैं। क्योंकि कालाणु एक-एक प्रदेश वाला होता है, इसलिए उसकी काय संज्ञा नहीं है। उसमें कायपना नहीं है, इस कारण से उसे अस्तिकाय में नहीं गिना गया।।२४।।

द्रव्यों की प्रदेश संख्या

होंति असंखा जीवे धम्माधम्मे अणंत आयासे।
मुत्ते तिविह पदेसा कालस्सेगो ण तेण सो काओ।।२५।।

हैं अनंत प्रदेश नभ जिय धर्म अधर्म असंख्य हैं।
सब पुद्गलों के त्रिविध एवं काल का बस एक है।।२५।।

अन्वयार्थ ह्न (जीवे) एक जीव में **(धम्माधम्मे)** धर्म और अधर्म द्रव्यों में **(असंखा)** असंख्यात **(आयासे)** आकाश द्रव्य में **(अणंत)** अनंत और **(मुत्ते)** पुद्गल में **(तिविह)** तीन प्रकार के अर्थात् संख्यात, असंख्यात और अनन्त **(पदेसा)** प्रदेश हैं और **(कालस्स)** काल द्रव्य का **(एगो)** एक प्रदेश है **(तेण)** इसलिए **(ण सो काओ)** वह कालद्रव्य कायवान नहीं है।

भावार्थ ह्न एक जीव समस्त लोकाकाश में प्रसारित हो सकता है। लोकाकाश के असंख्यात प्रदेश हैं, इसलिए जीव असंख्यात प्रदेशी है। धर्म और अधर्म भी समस्त लोकाकाश में तिल में तेल की भाँति भरे हुए विस्तृत हैं, इसलिए वे दोनों द्रव्य भी असंख्यात प्रदेशी हैं। आकाश के अनन्त प्रदेश हैं, क्योंकि आकाश लोकाकाश के बाहर भी है, उसकी कोई मर्यादा नहीं है। पुद्गल द्रव्य के अनन्त परमाणु हैं, परन्तु एक परमाणु अलग भी होता है और दो, चार, बीस, हजार, लाख आदि परमाणु मिलकर छोटा अथवा बड़ा स्कंध होता है। इस कारण से पुद्गल को संख्यात, असंख्यात तथा अनन्त प्रदेशी कहा जाता है। काल के अणु एक-एक अलग रहते हैं, वे मिलकर स्कंध नहीं होते। इस कारण वे कालद्रव्य कायवान नहीं हैं।।२५।।

https://AtmaDharma.com & https://AtmaDharma.org

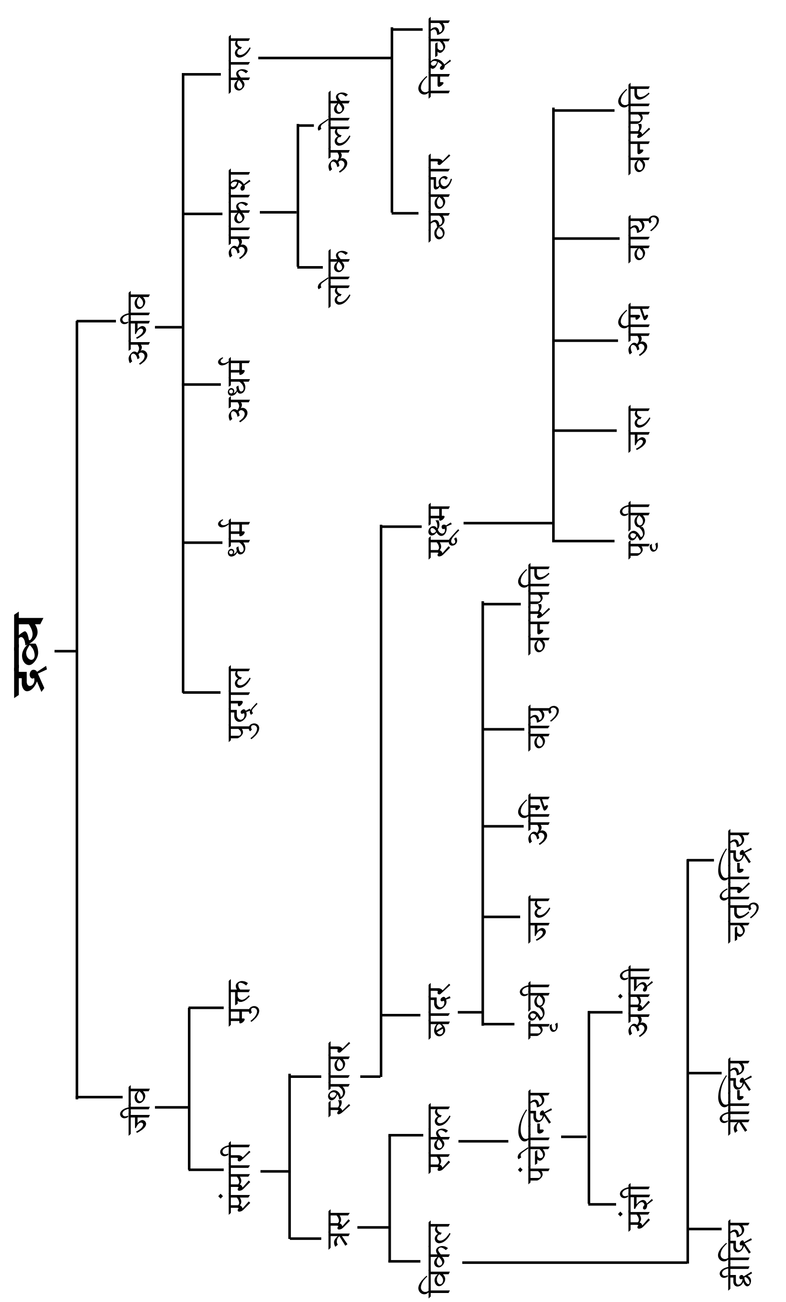

पुद्गलपरमाणु कायवान है

एयपदेसो वि अणू णाणाखंधप्पदेसदो होदि।
बहुदेसो उवयारा तेण य काओ भणंति सव्वण्हु ।।२६।।

यद्यपि पुद्गल अणु है मात्र एक प्रदेशमय।
पर बहुप्रदेशी कहें जिन स्कन्ध के उपचार से ।।२६ ।।

अन्वयार्थ ह्न (एयपदेसो वि) एकप्रदेशी होने पर भी **(अणू)** पुद्गल परमाणु **(णाणाखंधप्पदेसदो)** विविध स्कंधरूप प्रदेश वाला होता है, इस कारण **(बहुदेसो)** बहुप्रदेशी **(होदि)** होता है **(य)** और **(तेण)** इसी कारण **(सव्वण्हु)** सर्वज्ञ देव पुद्गल परमाणु को **(उवयारा)** उपचार से **(काओ)** कायवान **(भणंति)** कहते हैं।

भावार्थ ह्न पुद्गल का एक परमाणु अनेक प्रकार के स्कंधों में मिलने के कारण विविध स्कंधरूप हो सकता है, इसलिए उसे कायवान कहते हैं; परन्तु कालाणु विविध स्कंधरूप नहीं हो सकता, इसलिए कालाणु एकप्रदेशी है, कायवान नहीं है।।२६।।

प्रदेश का लक्षण

जावदियं आयासं अविभागीपुग्गलाणुउट्टद्धं।
तं खु पदेसं जाणे सव्वाणुट्ठाणदाणरिहं ।।२७।।

एक अणु जितनी जगह घेरे प्रदेश कहें उसे।
किन्तु एक प्रदेश में ही अनेक परमाणु रहें ।।२७ ।।

अन्वयार्थ ह्न (जावदियं) जितना **(आयासं)** आकाश **(अविभागी–पुग्गलाणुउट्टद्धं)** पुद्गलपरमाणु द्वारा व्याप्त है **(तं)** उसे **(खु)** वास्तव में **(सव्वाणुट्ठाणदाणरिहं)** सर्व अणुओं को स्थान देने योग्य **(पदेसं)** प्रदेश **(जाणे)** जानना चाहिए।

https://AtmaDharma.com & https://AtmaDharma.org

भावार्थ ह्न आकाश के जितने क्षेत्र में पुद्गल का सबसे छोटा टुकड़ा आ जाय, उतने क्षेत्र को प्रदेश कहते हैं, उस प्रदेश में धर्म और अधर्म द्रव्य के प्रदेश, कालाणु और पुद्गल के अनेक अणु ऐसे समा जाते हैं, जैसे लोहे के अन्दर आग। इसलिए प्रदेश को समस्त द्रव्यों के अणुओं को स्थान देने योग्य कहा है। छोटे से छोटे अणु को (जिसका दूसरा भाग नहीं हो सकता, उसे) परमाणु कहते हैं।।२७।।

।। अजीवाधिकार सम्पूर्ण ।।

।। प्रथम अधिकार समाप्त ।।

प्रथम अधिकार का सारांश

इस अधिकार का सार यह है कि ह्न

१) जीव को मोह (राग-द्वेष, पुण्य-पाप) के साथ एकत्वबुद्धि है, उसे छोड़कर अपनी आत्मा का अनुभव करना चाहिए। मेरा आत्मस्वरूप सर्वत: निजस्वरूप चैतन्य के परिणमन से परिपूर्ण भाववाला है। इसलिए यह मोह मेरा कोई नहीं लगता अर्थात् इसके साथ मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। मैं तो शुद्ध चैतन्य के समूहरूप तेजपुंज का निधान हूँ। ऐसा निश्चय करके स्वत: अपने एक आत्मस्वरूप का अनुभव* करना चाहिए।

२) मेरी प्रचण्ड चिन्मात्र शक्ति द्वारा ग्रासीभूत किए जाने के कारण मानो अत्यन्त अंतर्मग्न हो रहे हों, ज्ञान में तदाकार निमग्न हो रहे हों ह्न इसप्रकार आत्मा में प्रकाशमान हैं ह्न ऐसे यह धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल तथा अन्य जीव ह्न यह समस्त परद्रव्य मेरे सम्बन्धी नहीं हैं, क्योंकि टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक स्वभावपने के कारण परमार्थत: अन्तरंग तत्त्व तो मैं हूँ और वे परद्रव्य मेरे स्वभाव से भिन्न स्वभावी होने के कारण परमार्थत: बाह्य तत्त्वपने को छोड़ने में असमर्थ हैं।

* समयसार कलश ३०

और फिर यहाँ स्वयमेव नित्य उपयुक्त तथा परमार्थत: एक, अनाकुल आत्मा का अनुभव करता हुआ ऐसा भगवान आत्मा ही जानता है कि मैं प्रगट निश्चय से एक ही हूँ, इसलिए ज्ञेय-ज्ञायक स्वभाव मात्र से उत्पन्न परद्रव्यों के साथ परस्पर मिलन होने पर भी प्रगट स्वाद में आने वाले स्वभाव के भेद के कारण धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और अन्य जीवों के प्रति मैं निर्मम हूँ, क्योंकि सदा अपने में एकत्व को प्राप्त होने के कारण आत्मपदार्थ अथवा प्रत्येक पदार्थ ज्यों का त्यों स्थित[१] रहता है।

इसप्रकार भावक-भाव से तथा ज्ञेयभावों से जीव को भेदज्ञान करना चाहिए ह्न यह इस अधिकार का सार है।

द्वितीय अधिकार

आस्रवादि पदार्थों* का वर्णन

आसवबंधणसंवरणिज्जरमोक्खो सपुण्णपावा जे।
जीवाजीवविसेसा तेवि समासेण पभणामो।।२८।।

बंध आस्रव पुण्य-पाप रु मोक्ष संवर निर्जरा।
विशेष जीव अजीव के संक्षेप में उनको कहें।।२८।।

अन्वयार्थ ह्न (जे) जो **(आसवबंधणसंवरणिज्जरमोक्खो)** आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष **(सपुण्णपावा)** पुण्य और पाप सहित सात तत्त्व

१. समयसार कलश ३७

* जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ह्न यह सात तत्त्व हैं। इनमें पुण्य और पाप मिलाकर नौ पदार्थ कहे जाते हैं। मोक्षमार्ग में यह नौ पदार्थ अवश्य जानने योग्य हैं। आस्रव इत्यादि में जीव और अजीव अर्थात् आत्मा और कर्म दोनों का सम्बन्ध है। कर्मरहित आत्मा शुद्ध अर्थात् मुक्त कहलाता है।
जीव और अजीव में छह द्रव्य, सात तत्त्व और नौ पदार्थों का समावेश हो जाता है।

https://AtmaDharma.com & https://AtmaDharma.org

हैं, वे **(जीवाजीवविसेसा)** जीव और अजीव द्रव्य के भेद हैं **(तेवि)** वे भी **(समासेण)** संक्षेप में **(पभणामो)** कहते हैं।

भावार्थ ह्न १) सात तत्त्वों के नाम ह्न जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष यह सात तत्त्व हैं।

२) जीव–अजीव की व्याख्या ह्न १. जीव अर्थात् आत्मा वह सदा ज्ञातास्वरूप, पर से भिन्न और त्रिकालस्थायी है। ऐसे जीव अनन्त हैं। २. अजीव अर्थात् जड़ जिसमें चेतना–ज्ञातृत्व नहीं है, ऐसे द्रव्य पाँच हैं। उनमें धर्म, अधर्म, आकाश प्रत्येक एक–एक हैं और कालाणु असंख्य हैं और यह चारों अरूपी हैं तथा पुद्गल रूपी स्पर्श, रस, गंध और वर्ण सहित है। इसकी संख्या अनन्तानन्त है।

३) जीवतत्त्व सम्बन्धी भूल ह्न जीव त्रिकाल ज्ञातास्वरूप है। अज्ञान के वशीभूत होकर जीव उसे नहीं जानता और ऐसा मानता है कि जो शरीर है सो मैं ही हूँ, शरीर का कार्य मैं कर सकता हूँ और ऐसा मानता है कि यदि शरीर स्वस्थ हो तो मुझे लाभ होगा। बाह्य अनुकूल संयोगों से मैं सुखी हूँ और बाह्य प्रतिकूल संयोगों से दुःखी हूँ, मैं निर्धन हूँ, मैं धनवान हूँ, मैं निर्बल हूँ, मैं बलवान हूँ, मैं मनुष्य हूँ, मैं कुरूप हूँ, मैं सुन्दर हूँ। शरीराश्रित उपदेश तथा उपवासादिक क्रियाओं में अपनत्व मानता है। मैं बोल सकता हूँ, मैं खा सकता हूँ, मैं पी सकता हूँ, मैं पर जीवों का भला–बुरा कर सकता हूँ ह्न इत्यादि प्रकार से परद्रव्य की क्रिया का अपने को स्वामी मानता है।

इसप्रकार अज्ञानी जीव पर को स्व स्वरूप मानकर अपने स्वतत्त्व का (जीवतत्त्व का) निषेध करता है। निज को निजरूप जानकर उसमें पर का अंश भी न मिलाएँ और अपना अंश भी पर में न मिलाएँ ह्न ऐसा सच्चा श्रद्धान नहीं करता।

४) अजीवतत्त्वसम्बन्धी भूल ह्न मिथ्या अभिप्राय के वशीभूत होकर जीव ऐसा मानता है कि शरीर के उत्पन्न होने से मेरा जन्म हुआ, शरीर का नाश

होने से मैं मर जाऊँगा। शरीर धनादि जड़ पदार्थों में परिवर्तन होने से अपने में इष्ट–अनिष्ट परिवर्तन मानना, शरीर की उष्ण अवस्था होने पर मुझे बुखार आ गया, शरीर की क्षुधा–तृषादि रूप अवस्था होने पर मुझे क्षुधा–तृषादि लग रहे हैं, शरीर के कट जाने से मैं कट गया इत्यादि रूप अजीव की अवस्था को अज्ञानी जीव अपनी अवस्था मानता है। अजीव को अपना साधन–कारण–आधार आदि मानता है, यह उसकी अजीव तत्त्वसम्बन्धी भूल है, क्योंकि वह अजीव को जीव मानता है। इसमें अजीव को स्वतत्त्व (जीवतत्त्व) मानकर मानों वह अजीवतत्त्व का निषेध करता है।

५) जीव की मिथ्यादर्शनरूप प्रवृत्ति ह्न प्रत्येक प्रकार से अपने को और शरीर को वह एकरूप मानता है। शरीर की अङ्गभूत स्पर्शनादि द्रव्य इन्द्रियाँ हैं। अज्ञानी जीव उन सबको एकरूप समझकर यह मानता है कि हाथ आदि के स्पर्श द्वारा मैंने स्पर्श किया, जीभ के द्वारा मैंने चखा, नाक द्वारा मैंने सूँघा, आँखों द्वारा मैंने देखा और कानों के द्वारा मैंने सुना। वह द्रव्यमन और ज्ञान को एकरूप समझकर ऐसा मानता है कि मैंने मन के द्वारा जाना है।[१] यों अनेक प्रकार से मात्र अचेत जैसा बनकर पर्याय में ही अहंबुद्धि धारण करता है।

६) जीव की मिथ्याचारित्ररूप प्रवृत्ति ह्न १. निजस्वभाव तो ज्ञाता–दृष्टा है। अब केवल वह देखनेवाला–जाननेवाला तो रहता नहीं, किन्तु जिन–जिन पदार्थों को देखता–जानता है, उनमें इष्ट–अनिष्टता मानता है और इसीलिए वह रागी–द्वेषी होता है। २. वह किसी के सद्भाव या किसी के असद्भाव को चाहता है, किन्तु उसका सद्भाव अथवा अभाव इस जीव का किया नहीं होता। ३. क्योंकि कोई एक द्रव्य किसी दूसरे द्रव्य का कर्ता है ही नहीं, अपितु सभी द्रव्य निज–निज स्वभावरूप परिणमित होते हैं। ४. यह जीव केवल व्यर्थ ही कषाय भाव करके व्याकुल होता है।[२]

७. आस्रवादि का स्वरूप तत्सम्बन्धी गाथाओं में दिया गया है ।।२८।।

१. मोक्षमार्गप्रकाशक (जयपुर से प्रकाशित), अधिकार ४, पृष्ठ ८०
२. मोक्षमार्गप्रकाशक, अधिकार ४, पृष्ठ ८८

https://AtmaDharma.com & https://AtmaDharma.org

भावास्रव और द्रव्यास्रव का लक्षण

आसवादि जेण कम्मं परिणामेणप्पणो स विण्णेओ।
भावासवो जिणुत्तो कम्मासवणं परो होदि।।२९।।

कर्म आना द्रव्य आस्रव जीव के जिस भाव से।
हो कर्म आस्रव भाव वे ही भाव आस्रव जानिये।।२९।।

अन्वयार्थ ह्न (अप्पणो) आत्मा के **(जेण)** जिस **(परिणामेण)** परिणाम से **(कम्मं)** कर्म **(आसवदि)** आता है **(स)** उसे **(जिणुत्तो)** जिनेन्द्र भगवान द्वारा कथित **(भावासवो)** भावास्रव **(विण्णेओ)** जानना चाहिए और **(कम्मासवणं)** पुद्गल कर्म का आना सो **(परो)** द्रव्यास्रव **(होदि)** है।

भावार्थ ह्न १) आस्रव ह्न विकारी शुभाशुभ भावरूप जो अरूपी अवस्था जीव में होती है, वह भावास्रव है, और उस समय नवीन कर्म योग्य रजकणों का स्वयं स्वत: आना (आत्मा के साथ एक क्षेत्र में आना) सो द्रव्यास्रव है। (उसमें जीव की अशुद्ध पर्याय निमित्त मात्र है।)

२) अज्ञान दशा में आस्रव का अयथार्थ ज्ञान-श्रद्धान ह्न

१. अज्ञानता के कारण जीव मिथ्यात्व, कषायादि को अपना स्वभाव मानता है, दर्शन-ज्ञानोपयोग और आस्रवभाव ह्न इन दोनों को वह एक सा मानता है, क्योंकि उनका आधारभूत एक आत्मा है और फिर उसका तथा आस्रव भावों का परिणमन एक ही काल में होने से उसे वह भिन्नता भासित नहीं होती।

२. यह भिन्नता भासित होने में करणरूप जो विचार हैं, वे मिथ्यादर्शन के बल से नहीं हो सकते।

३. यह मिथ्यात्वभाव एवं कषायभाव आकुलता सहित हैं, इसलिए वे वर्तमान में दु:खमय हैं और भविष्य में भी दु:ख के ही कारणरूप होंगे। उन्हें इस प्रकार न मानकर किन्तु भला जानकर स्वयं उन भावरूप[१] होकर प्रवर्तित होता है।

३) आस्रव तत्त्व सम्बन्धी भूल ह्न

१. मिथ्यात्व, राग-द्वेष शुभाशुभ भाव आस्रव हैं, वे भाव आत्मा को प्रगट दु:ख देने वाले हैं। मिथ्यादृष्टि जीव उन्हें हितरूप मानकर निरन्तर उनका सेवन करता है। यह उसकी आस्रव तत्त्व सम्बन्धी भूल है।

२. वह अहिंसादिरूप पुण्यास्रव को भला मानता है, उपादेय मानता है।

तात्पर्य ह्न

१. आस्रव[२] अशुचि हैं, अपवित्र हैं और भगवान आत्मा सदैव अति निर्मल ज्ञायकस्वभाव होने के कारण अत्यन्त शुचि-पवित्र है।

२. आस्रव जड़ स्वभावी हैं, इसलिए वे दूसरों के द्वारा ज्ञात होने योग्य हैं, इसलिए वे चैतन्य से विपरीत स्वभाव वाले हैं। भगवान आत्मा सदैव विज्ञान-घनस्वभावी होने से स्वयं ही चेतक है।

३. आस्रव आकुलता उत्पन्न करते हैं और भगवान आत्मा सुखरूप है। इस प्रकार दोनों का अन्तर जानकर, पराश्रय छोड़कर निज शुद्धात्मा का आश्रय करना जीव का कर्तव्य है।

४. आस्रव[३] जीव के साथ निबद्ध हैं, अध्रुव हैं, अनित्य हैं, अशरण हैं, दु:खमय हैं, दु:ख ही उनका फल है ह्न ऐसा जानकर निज शुद्धात्म तत्त्व को जानकर स्वयं स्वाश्रय भाव प्रगट करना चाहिए।।२९।।

---

१. मोक्षमार्गप्रकाशक (जयपुर से प्रकाशित), अधिकार ४, पृष्ठ ८२
२. समयसार, गाथा ७२
३. समयसार, गाथा ७४

https://AtmaDharma.com & https://AtmaDharma.org

भावास्रवों के नाम और उनके भेद

मिच्छत्ताविरदिपमादजोगकोहादओऽथ विण्णेया।
पण पण पणदह तिय चदु कमसो भेदा दु पुव्वस्स ।।३०।।

मिथ्यात्व अविरति पाँच पाँच रु पंचदश परमाद हैं।
त्रय योग चार कषाय ये सब आस्रवों के भेद हैं ।।३०।।

अन्वयार्थ ह्न (अथ) और **(पुव्वस्स)** भावास्रव के **(मिच्छत्ताविरदि-पमादजोगकोहादओ)** मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, योग और क्रोध आदि **(भेदा)** भेद हैं, **(दु)** पुनश्च उनके **(कमसो)** क्रम से **(पण)** पाँच **(पण)** पाँच **(पणदह)** पन्द्रह **(तिय)** तीन **(चदु)** चार ह्न ऐसे बत्तीस भेद **(विण्णेया)** जानने चाहिए।

भावार्थ ह्न १) मिथ्यात्व की व्याख्या ह्न १. अभ्यन्तर[1] में वीतराग निज आत्मतत्त्व अनुभूति की रुचि सम्बन्धी विपरीत अभिनिवेश मिथ्यात्व है।

२. प्रयोजनभूत जीवादि तत्त्वों के अन्यथा श्रद्धान को तथा अदेव (कुदेव) को देव मानना, अतत्त्व को तत्त्व मानना, अधर्म (कुधर्म) को धर्म मानना इत्यादि विपरीत श्रद्धान को मिथ्यात्व कहते हैं।

२) उसके पाँच भेद ह्न १. एकान्त, २. विपरीत, ३. संशय, ४. अज्ञान और ५. विनय मिथ्यात्व। उसकी व्याख्या श्री लघु जैन सिद्धान्त प्रवेशिका में देखें।

३) अविरति की व्याख्या ह्न

१. निर्विकार स्वसंवेदन से विपरीत अव्रतपरिणामरूप विकार को अविरति कहते हैं। २. हिंसादि पापों तें तथा पंचेन्द्रिय और मन के विषयों में प्रवृत्ति

१. बृहद् द्रव्यसंग्रह (जयपुर से प्रकाशित), गाथा ३० की टीका, पृष्ठ १०१

करना सो अविरति है। ३. अभ्यन्तर[1] में निज परमात्म स्वरूप भावना से उत्पन्न जो परम सुखामृत रति है, उससे विलक्षण बहिर्विषय में अव्रतरूप भाव सो अविरति है।

४) अविरति के पाँच भेद ह्न १. हिंसा, २. असत्य, ३. चोरी, ४. अब्रह्म और ५. परिग्रह। इनमें इच्छारूप अविरति पाँच प्रकार की है।

५) प्रमाद की व्याख्या ह्न अभ्यन्तर में निष्प्रमाद शुद्धात्मा की अनुभूति से चलित होने रूप बहिर्विषय में मूल-उत्तर गुण में मलजनक भाव प्रमाद है।

६) योग ह्न कर्मास्रव के हेतुभूत आत्मा के प्रदेशों का परिस्पन्द होना सो योग है।

७) क्रोधादि कषाय ह्न परम उपशमरूप निज परमात्मस्वरूप में क्षोभ उत्पन्न करने वाले तथा बाह्य विषयों में पर के प्रति क्रूरता आदि आवेशरूप जो क्रोधादि हैं सो कषाय हैं। (उसके उपभेदों के लिए देखिए चार्ट पृष्ठ ६३)।

८) जैनधर्म की आम्नाय ह्न

जैनधर्म में ऐसी पद्धति है कि पहले बड़ा पाप छुड़ाकर फिर छोटा पाप छुड़ाया जाये।[2] इसलिए मिथ्यात्व को सात व्यसनादि से भी महान पाप जानकर पहले छुड़ाया है। इस मिथ्यात्व-शत्रु का अंश भी बुरा है, इसलिए जो पाप के फल से डरता हो तथा अपनी आत्मा को दुःख समुद्र में न डुबाना चाहता हो, वह जीव इस मिथ्यात्व पाप को अवश्य छोड़े।

९) मिथ्यात्वादि सम्बन्धी भूले ह्न

१. अन्य देवादि के सेवन रूप गृहीत मिथ्यात्व को तो जाने, किन्तु अनादि अगृहीत मिथ्यात्व को न पहिचाने।

१. बृहद् द्रव्यसंग्रह (जयपुर से प्रकाशित) गाथा ३० की टीका, पृष्ठ १०१
२. मोक्षमार्गप्रकाशक (जयपुर से प्रकाशित), अध्याय ६, पृष्ठ १९२

https://AtmaDharma.com & https://AtmaDharma.org

२. बाह्य त्रस-स्थावर की हिंसा को तथा इन्द्रिय, मन के विषयों में प्रवृत्ति को तो अविरति जाने, किन्तु हिंसा में प्रमाद परिणति मूल है और विषयसेवन में अभिलाषा मूल है, इसे न देखे।

३. बाह्य क्रोधादि करने को तो कषाय जाने, किन्तु अभिप्राय में जो राग-द्वेष रहता है, उसे न पहिचाने।

४. बाह्य चेष्टा को तो योग समझे, किन्तु शक्तिभूत योगों को न जाने।

इस प्रकार आस्रवों के स्वरूप को अज्ञानी जीव अन्यथा[१] जानता है।

१०) आस्रव और संसार के अभाव का क्रम ह्न

१. चौथे गुणस्थान में मिथ्यात्व पहले नष्ट होता है। मिथ्यात्व संसार का मूल है, उसके नष्ट होने पर सम्यग्दर्शन होता है, जो कि धर्म का मूल है। २. पाँचवें गुणस्थान में अविरति चली जाती है और भावलिंगी श्रावकत्व प्रगट होता है। ३. सातवें गुणस्थान में प्रमाद नहीं होता। ४. ग्यारह-बारहवें गुणस्थान में कषाय के न होने से यथाख्यातचारित्र प्रगट होता है। ५. चौदहवें गुणस्थान में योग के न रहने से अयोगी गुणस्थान प्रगट होता है। ६. अन्त में असिद्धत्व नामक औदयिक भाव का अभाव होने पर सिद्ध दशा प्रगट होती है।

तात्पर्य ह्न पैरा नं. ८ में कहीं गई जैनधर्म की आम्नाय को स्वीकार करके सबसे पहले सम्यग्दर्शन प्रगट करना चाहिए। मुनिपद[२] का क्रम यह है कि पहले तत्त्वज्ञान हो, फिर सम्यग्दर्शन-ज्ञान हो, फिर उदासीन परिणाम हों, परिषहादि सहन करने की शक्ति हो और वह स्वयं ही मुनि होने की इच्छा करे, तब श्री गुरु उसे मुनिधर्म अंगीकार करावें। यह विधि (आज्ञा) है, इसलिए तदनुसार वर्तन करना चाहिए।।३०।।

---

१. मोक्षमार्गप्रकाशक (जयपुर से प्रकाशित), अध्याय ७, पृष्ठ २२७

२. यह कैसी विपरीतता है कि तत्त्वज्ञान रहित और विषयासक्त जीव को माया द्वारा तथा लोभ बतलाकर मुनिपद देकर फिर अन्यथा प्रवृत्ति करायी जाय ! किन्तु यह तो महान अन्याय है। (मोक्षमार्गप्रकाशक, अध्याय ६, पृष्ठ १७९

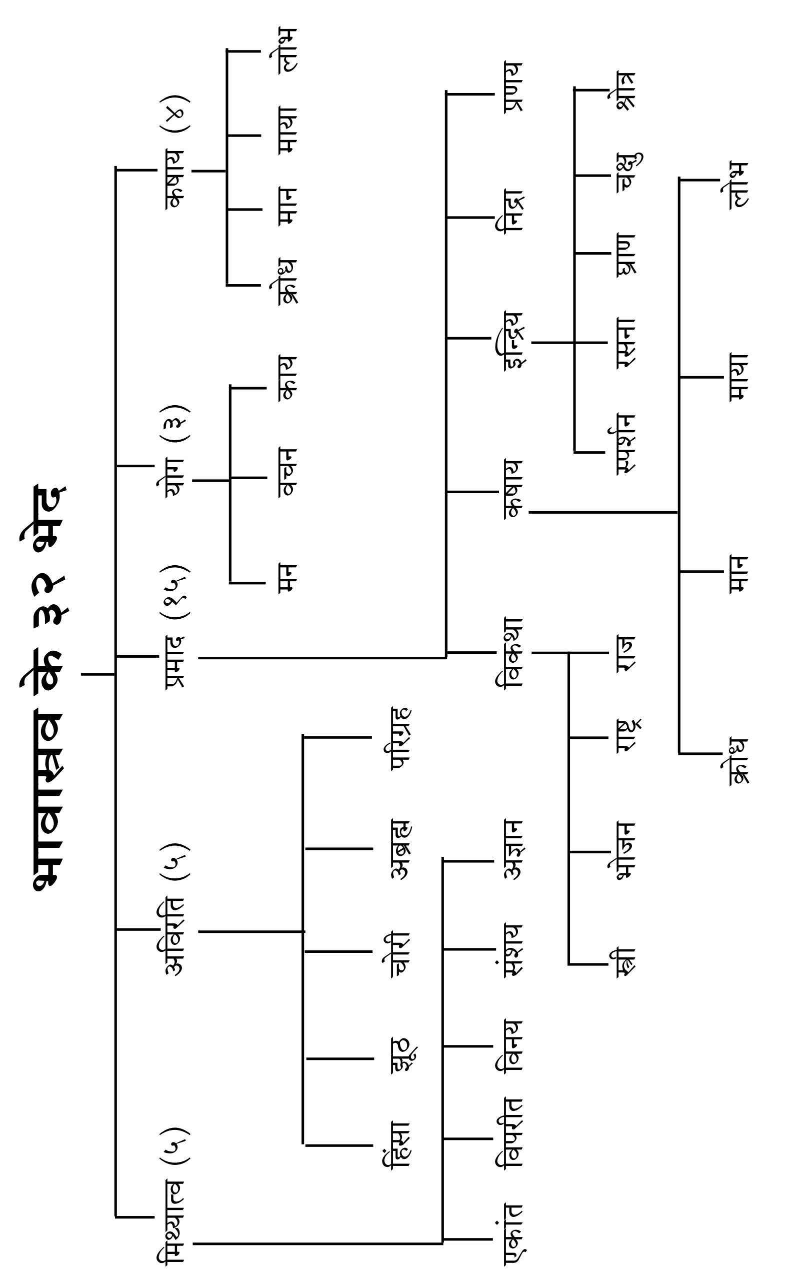

https://AtmaDharma.com & https://AtmaDharma.org

द्रव्यास्रव के भेद

णाणावरणादीणं जोग्गं जं पुग्गलं समासवदि।
दव्वासवो स णेओ अणेयभेयो जिणक्खादो।।३१।।

ज्ञानावरण आदिक करम के योग्य पुद्‍गल आगमन।
है द्रव्य आस्रव विविधविध जो कहा जिनवर देव ने।।३१।।

अन्वयार्थ ह्न (णाणावरणादीणं) ज्ञानावरणादि आठ प्रकार के कर्मरूप **(जोग्गं)** होनेयोग्य **(जं पुग्गलं)** जो कार्मणवर्गणा के पुद्‍गल **(समासवदि)** आते हैं **(स)** वे **(अणेयभेयो)** अनेक भेदवाले **(दव्वासवो)** द्रव्यास्रव **(णेओ** जानना चाहिए **(जिणक्खादो)** ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने कहा है।

भावार्थ ह्न ज्ञानावरणादी* आठ कर्मरूप होने योग्य कार्मणवर्गणा के जो पुद्‍गल स्कन्ध आते हैं, उन्हें द्रव्यास्रव कहते हैं।

---

* १. **ज्ञानावरण ह्न** जब आत्मा स्वयं अपने ज्ञानभाव का घात करता है, तब आत्मा के ज्ञानगुण के घात में जिस कर्म का उदय निमित्त होता है, उसे ज्ञानावरण कहते हैं।

२. **दर्शनावरण ह्न** जब आत्मा स्वयं अपने दर्शनभाव का घात करता है, तब आत्मा के दर्शनगुण के घात में जिस कर्म का उदय निमित्त होता है, उसे दर्शनावरण कहते हैं।

३. **वेदनीय ह्न** आत्मा को अनुकूलता या प्रतिकूलता के संयोग प्राप्त होने में जिस कर्म का उदय निमित्त होता है, उसे वेदनीय कहते हैं।

४. **मोहनीय ह्न** जीव अपने स्वरूप को भूलकर स्व-पर को एकरूप माने अथवा स्वरूपाचरण में असावधानी करे, तब उसमें जिस कर्म का उदय निमित्त होता है, उसे मोहनीय कर्म कहते हैं।

५. **आयु ह्न** जब जीव अपनी योग्यता से नरक, तिर्यंच, मनुष्य या देव के शरीर में रुका रहता है, तब उसमें जिस कर्म का उदय निमित्त होता है, उसे आयुकर्म कहते हैं।

६. **नाम ह्न** जीव जिस शरीर में हो, उस शरीरादि की रचना में जिस कर्म का उदय निमित्त होता है, उसे नामकर्म कहते हैं।

७. **गोत्र ह्न** जीव को उच्च या नीच आचरण वाले कुल में पैदा होने में जिस कर्म का उदय होता है, उसे गोत्र कर्म कहते हैं।

८. **अन्तराय ह्न** जीव को दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य नामक गुणों की पर्याय के विघ्न में जिस कर्म का उदय निमित्त होता है, उसे अन्तराय कर्म कहते हैं।

इस प्रकार आठ कर्मों के ५+९+२+२८+४+९३+२+५ = १४८ (एक सौ अड़तालीस) भेद हैं। वास्तव में कर्मों के अनन्त भेद हैं।

भावबंध और द्रव्यबंध का लक्षण

बज्झदि कम्मं जेण दु चेदणभावेण भावबंधो सो।
कम्मादपदेसाणं अण्णोण्णपवेसणं इदरो।।३२।।

जिस भाव से हो कर्मबंधन भावबंध है भाव वह।
द्रवबंध बंधन प्रदेशों का आतमा अर कर्म के।।३२।।

अन्वयार्थ ह्न (जेण) जिस **(चेदणभावेण)** चैतन्यभाव से **(कम्मं)** कर्म **(बज्झदि)** बँधता है **(सो)** वह परिणाम **(भावबंधो)** भावबंध है। **(दु)** और **(कम्मादपदेसाणं)** कर्म तथा आत्मप्रदेशों का **(अण्णोण्णपवेसणं)** एक-दूसरे में प्रवेश होना सो **(इदरो)** द्रव्यबन्ध है।

भावार्थ ह्न १) भावबन्ध की व्याख्या ह्न अज्ञान, मोह, राग-द्वेष, पुण्य-पाप विभाव में आत्मा का रुक जाना (अटक जाना) सो भावबन्ध है और उस समय कर्मयोग्य पुद्‍गलों का स्वयं स्वत: जीव के साथ एकक्षेत्रावगाहरूप से बँधना सो द्रव्यबन्ध है। (उसमें जीव का अशुद्ध भाव निमित्तमात्र है।)

२) जीव और कर्मबन्ध में कोई किसी का कर्ता नहीं है ह्न इस बन्धन* में कोई किसी का कर्तारूप नहीं है। जब तक बन्धन रहता है, तब तक दोनों का साथ रहता है, किन्तु वे छूटते नहीं हैं। उनमें परस्पर कार्य-कारणभाव (निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध) बना रहता है। इतना ही यहाँ बन्धन समझना चाहिए।

३) बन्धतत्त्व सम्बन्धी भूल ह्न जैसी सोने की बेड़ी वैसी ही लोहे की। दोनों बन्धनकर्ता हैं, उसी प्रकार पुण्य और पाप दोनों जीव को बन्धनकर्ता हैं, किन्तु मिथ्यादृष्टि जीव ऐसा न मानकर पुण्य को अच्छा-हितकारी मानता है। तत्त्वदृष्टि से तो पुण्य-पाप दोनों अहितकर ही हैं, किन्तु अज्ञानी ऐसा नहीं

---

* मोक्षमार्गप्रकाशक (जयपुर से प्रकाशित), दूसरा अध्याय, पृष्ठ २१-२३

https://AtmaDharma.com & https://AtmaDharma.org

मानता, यह बन्धतत्त्व की भूल है।

आस्रव और बन्ध की व्याख्या तथा उन दोनों के बीच भेद ह्न

जीव के मोह-राग-द्वेषरूप परिणाम भावास्रव* हैं और वे मोह-राग-द्वेषरूप परिणाम जिनके निमित्त हैं, ऐसे जो योग के द्वारा प्रवेश होने वाले पुद्गलों के कर्मपरिणाम हैं, वे द्रव्यास्रव हैं।

जीव के मोह-राग-द्वेष के द्वारा जो स्निग्ध परिणाम हैं, वे भावबन्ध हैं और उन स्निग्ध परिणामों के निमित्त से कर्मरूप परिणत पुद्गलों का जीव के साथ अन्योन्य विशिष्ट अवगाहन होना द्रव्यबन्ध है।

उपरोक्त कथन से यह सिद्ध हुआ कि मोह-राग-द्वेषरूप परिणाम भावास्रव हैं और मोह-राग-द्वेषरूप परिणाम में स्निग्धता सो भावबन्ध है।

तात्पर्य ह्न आत्मोन्मुख होकर स्वद्रव्य का आश्रय करने से नया बन्ध नहीं होता और पुराना बन्ध निर्जरित हो जाता है।।३२।।

बंध के चार प्रकार और उनके कारण

पयडिट्ठिअणुभागप्पदेसभेदा दु चदुविधो बंधो।
जोगा पयडिपदेसा ठिदिअणुभागा कसायदो होंति।।३३।।

बंध चार प्रकार प्रकृति प्रदेश थिति अनुभाग ये।
योग से प्रकृति प्रदेश अनुभाग थिती कषाय से।।३३।।

अन्वयार्थ ह्न (बंधो) बन्ध **(पयडिट्ठिअणुभागप्पदेसभेदा)** प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश के भेद से **(चदुविधो)** चार प्रकार का है। उसमें **(पयडिपदेसा)** प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध **(जोगा)** योग से तथा **(ठिदिअणुभागा)** स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध **(कसायदो)** कषाय से **(होंति)** होते हैं।

* पंचास्तिकाय, गाथा १०८, १३५, १३९, १४७ तथा उनकी टीका।

भावार्थ ह्न बन्ध के चार भेद हैं ह्न १. प्रकृति, २. स्थिति, ३. अनुभाग और ४. प्रदेश. प्रकृति और प्रदेशबन्ध योग से तथा स्थिति और अनुभागबन्ध क्रोधादि कषायों से होते हैं।

१. प्रकृति ह्न कर्म के स्वभाव को प्रकृति कहते हैं। जैसे ज्ञानावरण कर्म की प्रकृति पदार्थों को न जानने में निमित्त होती है और दर्शनावरण कर्म की प्रकृति पदार्थों को न देखने में निमित्त होती है। जैसे नीम का स्वभाव कड़वा और गुड़ का स्वभाव मीठा है, वैसे ही समस्त कर्मों की प्रकृतियाँ समझना चाहिए।

२. स्थिति ह्न स्वभाव से निश्चित समय तक न छूटना। जिस प्रकार बकरी आदि के दूध में मिठास है, मिठास का न छूटना सो स्थिति है; उसी प्रकार ज्ञानावरणादि कर्मों का पदार्थों को न जानने देना आदि स्वभाव निश्चित समय तक न छूटना सो स्थितिबन्ध है।

३. अनुभाग ह्न बकरी, गाय और भैंस आदि के दूध में चिकनाहट कम, साधारण तथा विशेष ज्ञात होती है, उसी प्रकार कर्म पुद्गलों की शक्ति विशेष को अनुभाग अथवा अनुभव बन्ध कहते हैं अर्थात् कर्मफलशक्ति को अनुभाग कहते हैं।

४. प्रदेश ह्न बँधे हुए कर्मपरमाणुओं का आत्मा के प्रदेशों के साथ एक क्षेत्र में अवगाहनपूर्वक रहना अथवा कर्मों के परमाणुओं की संख्या को प्रदेशबन्ध कहते हैं।

भावार्थ ह्न १. प्रदेश-प्रकृतिबन्ध ह्न योग के निमित्त से कर्म का आगमन होता है, इसलिए जो योग है सो आस्रव है ह्न ऐसा कहा है। उस योग द्वारा ग्रहण हुए कर्मपरमाणुओं का नाम प्रदेश है। उनका बन्ध हुआ तथा उसमें मूल उत्तर प्रकृतियों का विभाग हुआ, इसलिए योग के निमित्त से प्रदेशबन्ध और प्रकृतिबन्ध होता है ह्न ऐसा समझना।[१]

१. मोक्षमार्गप्रकाशक (जयपुर से प्रकाशित), अधिकार २, पृष्ठ २६

https://AtmaDharma.com & https://AtmaDharma.org

२. स्थिति-अनुभाग बन्ध ह्न जो मिथ्यात्व-क्रोधादिरूव भाव होते हैं, उन सबका सामान्यत: 'कषाय' नाम है। उससे कर्म-प्रकृतियों की स्थिति बँधती है तथा अनुभाग शक्ति के भेद होते हैं। इस प्रकार कषायों के निमित्त से स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध होता है ह्न ऐसा जानना।[१]

तात्पर्य ह्न यहाँ ऐसा समझना चाहिए कि नवीन बन्ध में मोह-राग-द्वेष भाव की ही मुख्यता[२] है। रागादि भावों का अभाव होने पर द्रव्य-मिथ्यात्व, द्रव्य-संयम, द्रव्य-कषाय, द्रव्य-योग के सद्भाव में भी जीव बन्धता नहीं है, इसलिए रागादि भावों को अन्तरंग बन्धहेतुपना होने के कारण सचमुच वे बन्ध के हेतु हैं ह्न ऐसा निर्णय करना चाहिए।[३] और इन चार बन्धरहित[४] सदा निरुपाधिस्वरूप जो आत्मा सो मैं हूँ ह्न ऐसी भावना सम्यग्ज्ञानी को निरन्तर करना चाहिए।।३३।।

भावसंवर और द्रव्यसंवर का लक्षण

चेदणपरिणामो जो कम्मस्सासवणिरोहणे हेऊ।
सो भावसंवरो खलु दव्वासवरोहणो अण्णो।।३४।।

कर्म रुकना द्रव्यसंवर और उसके हेतु जो।
निज आतमा के भाव वे ही भावसंवर जानिये।।३४।।

अन्वयार्थ ह्न (जो) जो **(चेदणपरिणामो)** आत्मा का परिणाम **(कम्मस्स)** कर्म के **(आसवणिरोहणे)** आस्रव को रोकने में **(हेऊ)** कारण है **(सो खलु)** वही **(भावसंवरो)** भावसंवर है और **(दव्वासवरोहणो)** द्रव्यास्रव का न होना सो **(अण्णो)** द्रव्यसंवर है।

१. मोक्षमार्गप्रकाशक (जयपुर से प्रकाशित), अधिकार २, पृष्ठ २७
२. पंचास्तिकाय (जयपुर से प्रकाशित), गाथा १४८, पृष्ठ २१४
३. पंचास्तिकाय, गाथा १४९, पृष्ठ २१५
४. नियमसार (जयपुर से प्रकाशित), गाथा ९८ की टीका तथा कलश १३३, पृष्ठ १८९

(आत्मा के जिस परिणाम से कर्म का आना रुके, उसे भावसंवर तथा द्रव्यास्रव का न होना, उसे द्रव्यसंवर कहते हैं।)

भावार्थ ह्न १) संवर की व्याख्या ह्न पुण्य-पापरूप अशुद्धभाव को आत्मा के शुद्धभाव द्वारा रोकना सो भावसंवर है और तदनुसार कर्मों का आना स्वयं स्वत: रुकना सो द्रव्यसंवर है।

२) संवरतत्त्व की भूल ह्न १. निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र जीव को हितकारी हैं (क्योंकि वे संवर-निर्जरारूप हैं); किन्तु मिथ्यादृष्टि जीव उन्हें कष्टदायक मानता है। यह उसकी संवरतत्त्वसम्बन्धी भूल है।

२. संवरतत्त्व में अहिंसादि* रूप शुभास्रवभाव को संवर मानता है, किन्तु ऐसा नहीं हो सकता कि एक ही कारण से पुण्यबन्ध भी माना जाय और संवर भी माना जाये।

प्रश्न : मुनि के एक ही काल में दो भाव होते हैं, वहाँ उनके बन्ध भी होता है और संवर-निर्जरा भी होती है, सो कैसे ?

उत्तर : १. यह भाव मिश्ररूप होते हैं। कुछ वीतराग और कुछ सराग।

२. उसमें जो अंश वीतराग होता है, उससे संवर होता है और जो अंश सराग रहता है, उससे बन्ध होता है।

३. मिश्रभाव से दो कार्य हो सकते हैं, किन्तु एक प्रशस्तराग से ही पुण्यास्रव भी मानना और संवर-निर्जरा भी मानना केवल भ्रम है।

४. मिश्रभाव में यह पहिचान सम्यग्दृष्टि को ही होती है कि यह सरागता है और यह वीतरागता, इसलिए वह अवशेष सरागभाव को हेयरूप श्रद्धा करता है।

५. किन्तु मिथ्यादृष्टि को ऐसी पहिचान नहीं होती, इसलिए वह सरागभाव में संवर के भ्रम से प्रशस्तरागरूप कार्यों को उपादेयरूप श्रद्धा करता है।

३) चारित्रगुण की मिश्र अवस्था के सम्बन्ध में ह्न चारित्र गुण का

* मोक्षमार्गप्रकाशक (जयपुर से प्रकाशित), अधिकार ७, पृष्ठ २२८

https://AtmaDharma.com & https://AtmaDharma.org

ऐसा स्वभाव है कि चौथे गुणस्थान से उसको आंशिक शुद्धि और आंशिक अशुद्धि होती है। ऐसी दशा दसवें गुणस्थान के अन्त तक रहती है। यथाख्यातचारित्र के प्रगट होने पर वह मिश्रदशा नहीं रहती।

४) चौथे गुणस्थान में स्वरूपाचरणचारित्र[*] अनन्तानुबन्धी कषाय का अभाव होने पर होता है।

प्रश्न : उसका क्या स्वरूप है ?

उत्तर : जैसे स्वर्ण को पकाने पर उसकी किट्टकालिमा चली जाती है और स्वर्ण शुद्ध हो जाता है, वैसे ही जीवद्रव्य के अनादिकालीन अशुद्ध चेतनारूप रागादि परिणाम दूर हो जाते हैं और जीवद्रव्य शुद्ध स्वरूप मात्र शुद्ध चेतनारूप परिणमित होता है। उसे स्वरूपाचरण चारित्र कहते हैं, जो कि मोक्षमार्ग है।

उसका विशेष ह्न जब तक शुद्ध परिणमन सर्वोत्कृष्ट होता है, तब तक शुद्धत्व के अनन्त भेद हैं। वे भेद जातिभेद तो नहीं हैं, किन्तु बहुत शुद्धता और फिर उससे भी बहुत शुद्धता और उससे भी बहुत शुद्धता ह्न ऐसे थोड़े-बहुत रूप भेद हैं। भावार्थ यह है कि जितनी शुद्धता हो उतनी मोक्ष का कारण है। जब सर्वथा शुद्धता हो जाती है, तब सम्पूर्ण कर्मक्षयलक्षण मोक्षपद की प्राप्ति होती है।[1]

५) संवर ह्न संवर शब्द से वाच्य शुद्धोपयोग है। वह संसार के कारणभूत मिथ्यात्व रागादि की भाँति अशुद्ध नहीं है, तथा केवलज्ञान पर्याय की भाँति पूर्ण शुद्ध भी नहीं है, किन्तु उन दोनों पर्यायों से विलक्षण शुद्धात्मा के अनुभवस्वरूप निश्चयरत्नत्रय-मोक्ष का कारण, उस एकदेश व्यक्तिरूप (अर्थात् एकदेश आवरण रहित ऐसी) तीसरे प्रकार की अवस्थान्तर है।

६) शुद्धोपयोग का प्रारम्भ ह्न १. चौथे गुणस्थान में ह्न अनादिकालीन मिथ्यादृष्टि अवस्था जाने पर ४१ प्रकृतियों का संवर प्रारंभ होता है, यह

* पण्डित गोपालदासजी कृत हिन्दी जैन सिद्धान्त प्रवेशिका, प्रश्न २२२-२२३

१. समयसार कलश ७, पुण्य-पाप अधिकार टीका, पृष्ठ ८५, कलश १०६

निश्चयसम्यग्दर्शन की महिमा है। वह प्रथम निर्विकल्प दशा होने पर होता है। वह निर्विकल्प दशा अल्पकाल रहती है और फिर बहुत अन्तराल से होती है। (किन्तु जो शुद्धता हुई है, वह चालू रहती है और वह क्रमश: बढ़ती है। इस शुद्धता को शुद्ध परिणति कहते हैं। इस प्रकार चौथे गुणस्थान से आंशिक शुद्ध और आंशिक अशुद्ध ह्न ऐसी मिश्र चारित्र पर्याय होती है। यह ऊपर पैरा २-३-४ में बतलाया गया है।) यह निर्विकल्प दशा ही शुद्धोपयोग है। किन्तु चौथे गुणस्थान में शुद्धोपयोग बहुत गौण है और वहाँ शुभोपयोग प्रचुरता से होता है। इसलिए बहुपद की प्रधानता के कारण 'आम्रवन' 'निम्बवन' की भाँति शुभोपयोग अथवा परम्परा शुद्धोपयोग (निमित्त) साधक शुभोपयोग होता है, ऐसा कहने की शास्त्र की पद्धति है। किन्तु इससे ४-५ गुणस्थान में निर्विकल्प दशा अर्थात् शुद्धोपयोग होता ही नहीं है, ऐसी बात नहीं है, किन्तु किसी समय[1] होता है।

१. और फिर, 'अन्तरात्मत्व' तथा 'निश्चयधर्मध्यान' चौथे गुणस्थान से होते हैं। यदि अपनी पर्याय आत्मा के साथ अभेद न होती हो तो 'अन्तरात्मत्व' और धर्मध्यान नहीं कहा जा सकेगा। इसलिए यह निर्णय करना चाहिए कि[2] इस गुणस्थान में कभी-कभी शुद्धोपयोग होता है। और जब वह नहीं होता है, तब चारित्र की आंशिक शुद्धिरूप परिणति निरन्तर चालू रहती है।

२. पाँचवे गुणस्थान में ह्न इससे शुद्धि विशेष होती है। चौथे गुणस्थान की अपेक्षा से निर्विकल्प अनुभव शीघ्र होता है।[3]

१. प्रवचनसार की टीका में जयसेनाचार्य ने आम्रवन-निम्बवन का दृष्टान्त दिया है। पंचास्तिकाय गाथा १०६ के बाद एक अतिरिक्त गाथा श्री जयसेनाचार्य ने दी है, तदनुसार व्यवहारमोक्षमार्गी भी किसी-किसी समय निर्विकल्प समाधिकाल में निश्चय मोक्षमार्ग को प्राप्त होता है। किन्तु उसके व्यवहार की प्रचुरता होने से व्यवहार की मुख्यता से व्यवहार मोक्षमार्गी कहा है। 'विवक्षितो मुख्यं' यह वचन वहाँ लागू होता है।

२. पं. बटेश्वर शास्त्री की तत्त्वार्थसूत्र की टीका में चौथे गुणस्थान में शुद्धोपयोग कहा है।

५. पण्डित टोडरमलजी कृत रहस्यपूर्ण चिट्ठी।

https://AtmaDharma.com & https://AtmaDharma.org

भगवान कुन्दकुन्दाचार्य[१] ने नियमसार, समयसार तथा चारित्र प्राभृत में कहा है कि श्रावकों के निश्चयरत्नत्रय होता है। श्री अमृतचन्द्राचार्य ने समयसार में, श्री जयसेनाचार्य ने समयसार में तथा प्रवचनसार में और श्री पद्मप्रभमलधारिदेव ने नियमसार की टीका में भी ऐसा ही कहा है।

३. छठे गुणस्थान में ह्न यहाँ तीन कषायों का अभाव होता है, इतनी शुद्ध परिणति निरन्तर है। और जितनी अशुद्धि है, वह शुभोपयोगरूप है।

४. सात, आठ, नौ, दसवें गुणस्थान के अन्त तक शुद्धोपयोगरूप के साथ राग (अबुद्धिपूर्वक) होता है, तथापि वहाँ मुख्यता की अपेक्षा से शुद्धोपयोग कहा है और शुभभाव को गौण मानकर उसे नहीं कहा है।

इस सम्बन्धी कथनपद्धति ह्न १. निचली दशा में[२] किसी जीव के शुभोपयोग और शुद्धोपयोग की युक्तता[३] होती है। (इसलिए व्रतादि शुभोपयोग को उपचार से मोक्षमार्ग कहा है, किन्तु वस्तुतः विचार करने पर शुभोपयोग मोक्ष का घातक ही है।)

२. द्रव्यानुयोग में शुद्धोपयोग करने का ही मुख्य उपदेश है, इसलिए वहाँ छद्मस्थ जीव जिस काल में बुद्धिगोचर भक्ति आदि तथा हिंसा आदि कार्यरूप परिणामों को छोड़कर आत्मानुभवरूप कार्य में प्रवर्तन करे, उस काल में उसे शुद्धोपयोगी ही कहते हैं। यद्यपि यहाँ केवलज्ञानगोचर सूक्ष्म रागादिक हैं, तथापि उनकी यहाँ विवक्षा नहीं है, किन्तु अपने बुद्धिगोचर रागादि को छोड़ा, इस अपेक्षा से उसे शुद्धोपयोगी[४] कहा है। .....निचली दशा में द्रव्यानुयोग की अपेक्षा से तो कदाचित् शुद्धोपयोग होता है। .....

---

१. नियमसार गाथा १३४, टीका, समयसार गाथा ४१० से ४१४ तथा टीका, चारित्रप्राभृत गाथा २०, प्र. सार पृ. ३४२, जयसेनाचार्य। सामायिक कालादि के प्रसंग में श्रावक के शुद्धोपयोग कहा है।

२. ४, ५, ६ गुणस्थानों को निचली दशा कहा जाता है। ७ वें गुणस्थान से शुद्धोपयोग ही कहलाता है।

३. मोक्षमार्गप्रकाशक (जयपुर से प्रकाशित), अध्याय ८, पृष्ठ २८४-२८५

४. मोक्षमार्गप्रकाशक, अध्याय ८

३. और किसी स्थान पर मुख्यता की अपेक्षा से व्याख्यान हो उसे सर्व प्रकार रूप नहीं जानना चाहिए। जिस प्रकार मिथ्यादृष्टि और सासादन गुणस्थान वाले जीवों को पाप जीव कहा है तथा असंयतादि गुणस्थान वाले जीवों को पुण्य जीव कहा है, सो यह मुख्यता से कहा गया है, किन्तु तारतम्यता से तो दोनों में यथासम्भव पाप-पुण्य होते हैं। इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना।

बृहद् द्रव्यसंग्रह गाथा ३४ की टीका में तथा प्रवचनसारादि शास्त्रों में गुणस्थानों का संक्षेप से तीन विभागरूप अशुभोपयोग, शुभोपयोग तथा शुद्धोपयोग का जो कथन जहाँ-जहाँ है, वहाँ-वहाँ उस मुख्यता की अपेक्षा से है, ऐसा समझना। सर्व प्रकार से नहीं समझना चाहिए।।३४।।

भावसंवर के भेद

वद[१]समिदिगुत्तिओ धम्माणुपिहा परीसहजओ य।
चारित्तं बहुभेयं[२] णायव्वा भावसंवरविसेसा।।३५।।

व्रत समिति गुप्ती धर्म परिषहजय तथा अनुप्रेक्षा।
चारित्र भेद अनेक वे सब भावसंवररूप हैं।।३५।।

अन्वयार्थ ह्न (वदसमिदिगुत्तिओ) व्रत, समिति और गुप्ति **(धम्माणुपिहा)** धर्म अनुप्रेक्षा **(परीसहजओ)** परीषहजय **(य)** और **(चारित्तं बहुभेयं)** अनेक भेदवाला चारित्र यह **(भावसंवरविसेसा)** भावसंवर के भेद **(णायव्वा)** जानना चाहिए।

भावार्थ ह्न १) व्रत-समिति-गुप्ति ह्न यह गाथा संवर अधिकार की है, इसलिए यहाँ निश्चयव्रत, निश्चयसमिति तथा निश्चयगुप्ति समझना चाहिए। व्यवहारव्रत-समिति-गुप्ति ४५ वीं गाथा में कही है, जो कि आस्रव है।

---

१. 'वद' के स्थान पर 'तव' भी पाठ है। तव = तप।

२. 'बहुभेया' भी पाठ है, जिसका अर्थ अनेक प्रकार के भावसंवर के भेद समझना चाहिए। तब ऐसा अन्वय होता है कि 'बहुभेया भावसंवर विसेसा णायव्वा।'

https://AtmaDharma.com & https://AtmaDharma.org

२) निश्चयव्रत ह्न निश्चय[१] से विशुद्ध ज्ञान-दर्शनस्वभाव निज आत्मतत्त्व की भावना से उत्पन्न सुखामृत के आस्वादरूपी बल से समस्त शुभाशुभ रागादि विकल्प से निवृत्ति का होना सो व्रत है।

३) निश्चय समिति ह्न अभेद अनुपचार[२] रत्नत्रयरूपी मार्ग में परमधर्मी ऐसे अपने आत्मा के प्रति सम्यक् 'इति' अर्थात् परिणति सो समिति है। अथवा निज परमतत्त्व में लीन सहज परम ज्ञानादिक परम धर्मों की संहति (मिलन-संगठन) सो समिति है।

४) निश्चय गुप्ति ह्न निश्चय से सहज शुद्धात्मभावनालक्षण गूढस्थान में संसार कारण रागादि के भय से स्वात्मा में गोपन (प्रच्छादन, झंपन, प्रवेशनं, रक्षण) सो गुप्ति है।

५) निश्चय धर्म ह्न १. निश्चय[३] से संसार में गिरते हुए आत्मा को जो धारण करे, ऐसी विशुद्ध ज्ञान-दर्शनलक्षण निज शुद्धात्म की भावना सो धर्म है। २. पदार्थ के इष्ट-अनिष्ट भासित होने पर क्रोधादि होते हैं। जब तत्त्वज्ञान[४] के अभ्यास से कोई इष्ट-अनिष्ट न भासे, तब स्वयं क्रोधादि उत्पन्न नहीं होते और तभी सच्चा धर्म होता है। निश्चयधर्म तो वीतरागभाव है।

६) निश्चय अनुप्रेक्षा ह्न जैसा[४] अपना तथा शरीरादिक का स्वभाव है, उसे वैसा जानकर भ्रम छोड़कर उन्हें भला मानकर राग न करना और बुरा समझकर द्वेष न करना ह्न ऐसी सच्ची उदासीनता के लिए अनित्यादि भावनाओं का यथार्थ चिन्तवन करना सो सच्ची अनुप्रेक्षा है।

७) निश्चय परिषहजय ह्न दुःख के कारण मिलने पर दुःखी न हो तथा सुख के कारण मिलने पर सुखी न हो, किन्तु ज्ञेयरूप से उनका जाननेवाला ही रहे, सो यही सच्चा परिषहजय है।

---

१. बृहद् द्रव्यसंग्रह (जयपुर से प्रकाशित), गाथा ३५ की टीका।
२. नियमसार (जयपुर से प्रकाशित), गाथा ६१, पृष्ठ ११९
३. बृहद् द्रव्यसंग्रह, गाथा ३५, पृष्ठ ११५-११६
४. मोक्षमार्गप्रकाशक (जयपुर से प्रकाशित), अध्याय ७, पृष्ठ २२९

८) निश्चय चारित्र ह्न निश्चय से तो निष्कषाय भाव है, वही सच्चा चारित्र है। जो सदा प्रत्याख्यान करता है, सदा प्रतिक्रमण करता है और सदा आलोचना करता है, वह आत्मा अपने में ही-ज्ञानस्वभाव में ही निरन्तर चरित होने से (विचरण-आचरण करता होने से) चारित्र[१] है और चारित्ररूप वर्तन करता हुआ निज को, ज्ञानमात्र को चेतित होने से स्वयं ही ज्ञान-चेतना है। मोह क्षोभरहित चारित्र ही यथार्थ धर्म है।

९) पापसंवर सम्बन्धी स्पष्टता ह्न

प्रश्न : बृहद् द्रव्यसंग्रह गाथा ३५ की टीका में कहा है कि ह्न ''व्रत से प्रारम्भ करके चारित्र तक सबकी जो व्याख्या की है, उसमें निश्चय रत्नत्रय साधक व्यवहाररत्नत्रयरूप शुभोपयोग के प्रतिपादक जो वाक्य हैं, उन्हें पापास्रव के संवर का कारण समझना चाहिए।'' इसका क्या अर्थ है ?

उत्तर : १. श्री पंचास्तिकाय गाथा १४१ में पापास्रव के संवर का स्वरूप दिया है, वहाँ श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव कहते हैं कि ह्न ''भलीभाँति मार्ग में रहकर इन्द्रियों, कषायों और संज्ञाओं का जितना निग्रह करता है, उतना ही पापास्रव का छिद्र बन्ध होता है।''

२. उसकी टीका में कहा है कि ह्न ''मार्ग यथार्थ में संवर है, उसके निमित्त से (उसके लिए) इन्द्रियों, कषायों और संज्ञाओं का जितने अंश में अथवा जितने समय तक निग्रह किया जाता है, उतने समय तक पापास्रव द्वार बन्द होता है।''

३. शुभोपयोग को संवर नहीं कहा, अपितु मार्ग यथार्थ में संवर है ह्न ऐसी स्पष्टता की है, और फिर वहाँ ''जितने अशं में'' ह्न ''उतने अंश में'' ह्न इन शब्दों का प्रयोग किया है, वे बतलाते हैं कि साधक जीवों के चारित्र की एक पर्याय में दो अंश होते हैं ह्न १. वीतरागी अंश, २. राग अंश। उसमें जो वीतरागी अंश अर्थात् शुद्ध परिणती कषाय के अभावरूप है, वह संवर है और

---

१. समयसार गाथा ३८६, प्रवचनसार गाथा ७

https://AtmaDharma.com & https://AtmaDharma.org

जो राग अंश वह शुभोपयोग है, जो कि बंध का ही कारण है। उसे संवर मानना निरा भ्रम है।

४. यह शुभोपयोग भूमिका के अनुसार वीतरागी शुद्ध परिणति का सहचर है, इसलिए उसे संवर का (उपादान कारण नहीं किन्तु) मात्र निमित्तकारण कहा जाता है।

५. वह निमित्तकारण है ह्व ऐसा ज्ञान कराने का प्रयोजन यह है कि ऐसा शुभोपयोग साधक जीव के तन्मयबुद्धि से-एकत्वबुद्धि से नहीं होता, किन्तु निषेधबुद्धि से (हेयबुद्धि से, वियोगबुद्धि से) होता है, वह उसका उल्लंघन करना चाहता है और उसका पुरुषार्थ चालू है, वह क्रमश: शुद्धता का पुरुषार्थ बढ़ाते हुए शुभभाव का अभाव करेगा। इसलिए व्यवहाररत्नत्रयरूप शुभोपयोग परमार्थ से बाधक होने पर भी सहचर[१] होने के कारण व्यवहारनय से निश्चयनय का साधक अर्थात् भिन्न साधक-साध्य (निमित्तरूप से) कहा जाता है।।३५।।

निर्जरा का लक्षण और भेद

जहकालेण तवेण य भुत्तरसं कम्मपुग्गलं जेण।
भावेण सडदि णेया तस्सडणं चेदि णिज्जरा दुविहा।।३६।।

द्रवनिर्जरा है कर्म झरना और उसके हेतु जो।
तपरूप निर्मल भाव वे ही भावनिर्जर जानिये।।३६।।

अन्वयार्थ ह्व (जहकालेण) समय आने से **(य)** और **(तवेण)** तप द्वारा **(भुत्तरसं)** जिनका फल भोगा जा चुका है ऐसे **(कम्मपुग्गलं)** कर्मरूप पुद्गल **(जेण)** जिस **(भावेण)** भाव से **(सडदि)** खिर जाते हैं, उसे भावनिर्जरा **(णेया)** जानना चाहिए **(य)** और **(तस्सडणं)** कर्मों का खिर जाना सो

१. सर्वज्ञ-वीतराग कथित आगम में कहा है, वैसा ही व्यवहार-निमित्त भूमिकानुसार होने का नियम है, इसलिए उसे सहचर कहा है, किन्तु श्वेताम्बर आदि मत कथित चाहे जैसे श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र, लिंग-वेश हों, उन्हें निमित्त-सहचर नहीं माना है।

द्रव्यनिर्जरा है **(इदि)** इस प्रकार **(णिज्जरा)** निर्जरा **(दुविहा)** दो प्रकार से है।

भावार्थ ह्व १) निर्जरा ह्व अखण्डानन्द शुद्धात्मस्वभाव के बल द्वारा आंशिक शुद्धि की वृद्धि और अशुद्ध (शुभाशुभ) अवस्था की आंशिक हानि करना सो भावनिर्जरा है, तथा उस प्रसंग पर द्रव्यकर्मों का स्वयं स्वत: अंशत: खिर जाना सो द्रव्यनिर्जरा है। (उसमें जीव का शुद्धभाव निमित्तमात्र है।)

२) निर्जरातत्त्व सम्बन्धी भूल ह्व आत्मा में एकाग्र होकर शुभ और अशुभ दोनों प्रकार की इच्छाओं को रोकने से जो निजगुण की शुद्धि का प्रतपन होता है, सो तप है। इस सम्यक् तप से निर्जरा होती है। ऐसा तप सुखदायक है, किन्तु अज्ञानी उसे क्लेशदायक मानता है और आत्मा की ज्ञानादि अनन्त शक्तियों को भूलकर, पंचेंद्रियों के विषयों में सुख मानकर उनमें प्रीति करता है। यह निर्जरातत्त्व सम्बन्धी भूल है। (ज्ञानी के तपकाल में परिणामों की शुद्धतानुसार निर्जरा कही है, मात्र बाह्य तप से निर्जरा मानना भूल है।)

३) सविपाक निर्जरा ह्व द्रव्यकर्मों के उदय में आने पर भी जितने अंश में जीव उनसे पीछे रहता है अर्थात् उनमें युक्त नहीं होता, उतने अंश में सम्यग्दृष्टि के संवर पूर्वक निर्जरा होती है (अज्ञानियों की सविपाक निर्जरा यहाँ नहीं लेनी चाहिए।) सम्यग्दृष्टि के सविकल्प दशा में जो शुद्ध परिणति होती है, उससे निर्जरा होती है। वह अशुभ कर्मों का नाश करती है, शुभ कर्मों का नहीं, अपितु संसार स्थिति को घटाती है।[१] निर्विकल्प दशा में जो निर्जरा होती है, वह शुभ और अशुभ दोनों कर्मों का विनाश करती है।

४) अविपाक निर्जरा ह्व आत्मा की शुद्ध परिणति होने पर सत्ता में रहने वाले कर्मों की स्थिति कम होती है। और वे जब आत्मा से पृथक् हो जाते हैं, तब उनकी अविपाक निर्जरा हुई कही जाती है। द्रव्यकर्म की अपेक्षा से वह अविपाक निर्जरा है और जीवभाव की अपेक्षा से वह सकाम निर्जरा है।

१. बृहद् द्रव्यसंग्रह (जयपुर से प्रकाशित), गाथा ३६ की टीका, पृष्ठ १७२-१७३

https://AtmaDharma.com & https://AtmaDharma.org

५) भावनिर्जरा–द्रव्यनिर्जरा ह्न सम्यग्दृष्टि, श्रावक, भावमुनि, उपशमक, क्षपकादि जीवों के परिणाम उत्तरोत्तर अनंतगुनी[१] विशेष शुद्धि वाले होते हैं, वह भाव निर्जरा है और उस समय जो असंख्यात गुनी क्रमश: वृद्धिंगत अर्थात् उत्तरोत्तर असंख्यातगुनी निर्जरा होती है, वह द्रव्यनिर्जरा है ।।३६।।

मोक्ष के भेद और लक्षण

सव्वस्स कम्मणो जो खयहेदू अप्पणो हु परिणामो ।
णेओ स भावमोक्खो दव्वविमोक्खो य कम्मपुधभावो ।।३७।।

भावमुक्ती कर्मक्षय के हेतु निर्मलभाव हैं।
अर द्रव्यमुक्ती कर्मरज से मुक्त होना जानिये ।।३७ ।।

अन्वयार्थ ह्न (अप्पणो) आत्मा के **(जो)** जो **(परिणामो)** परिणाम **(सव्वस्स कम्मणो)** समस्त कर्मों के **(खयहेदू)** क्षय होने में कारण हैं **(स हु)** वही **(भावमोक्खो)** भावमोक्ष **(णेओ)** जानना चाहिए। **(य)** और **(कम्मपुधभावो)** आत्मा से द्रव्यकर्मों का पृथक् होना सो **(दव्वविमोक्खो)** द्रव्यमोक्ष है।

भावार्थ ह्न १) मोक्ष ह्न समस्त कर्मों के क्षय के कारणभूत तथा निश्चयरत्नत्रय स्वरूप जो परम विशुद्ध परिणाम हैं, सो भावमोक्ष है और अपनी योग्यता से स्वयं स्वत: द्रव्यकर्मों का आत्मप्रदेशों से अत्यन्त अभाव होना सो द्रव्यमोक्ष है। जीव अत्यन्त शुद्ध हो जाय ऐसी दशा को मोक्षतत्त्व कहते हैं। गाथा २, १४ और ५१ में सिद्ध परमेष्ठी के सम्बन्ध में जो कुछ कहा है, वह यहाँ भी लागू होता है।

२) मोक्षतत्त्वसम्बन्धी भूल ह्न १. आत्मा की परिपूर्ण शुद्ध दशा का प्रगट होना सो मोक्ष है। उसमें आकुलता का अभाव है। पूर्ण स्वाधीन निराकुल

१. पण्डित हीरालालजी कृत द्रव्यसंग्रह गाथा ३६ की टीका।

सुख है, किन्तु अज्ञानी जीव ऐसा न मानकर शरीर में, मौज–शौक में ही सुख मानता है। मोक्ष में देह, इन्द्रिय, खानपान, मित्रादि कुछ भी नहीं होता, इसलिए अज्ञानी अतीन्द्रिय मोक्षसुख को नहीं मानता। यह उसकी मोक्षतत्त्व सम्बन्धी भूल है। २. अज्ञानी सिद्धसुख तथा इन्द्रियसुख की एक ही जाति मानता है। जिस धर्म साधन का फल स्वर्ग मानता है, उसी धर्म साधन का फल वह मोक्ष मानता है। कोई जीव इन्द्रादि पद प्राप्त करे तथा कोई मोक्षपद प्राप्त करे तो वहाँ उन दोनों को एक जातिरूप धर्म का फल हुआ मानता है। और वह ऐसा मानता है कि जिसे अल्प साधन होता है, वह इन्द्रादि पद प्राप्त करता है, तथा जिसके सम्पूर्ण साधन होता है वह मोक्ष प्राप्त करता है। जो कारण की जाति को एक जानता है, उसे कार्य की एक जाति का श्रद्धान अवश्य होता है, क्योंकि कारण–विशेषता होने से ही कार्य–विशेषता होती है, इसलिए ऐसा निश्चय होता है कि उसके अभिप्राय में इन्द्रादि का सुख और सिद्ध सुख की जाति में एक जाति का श्रद्धान है। इन्द्रादि को जो सुख है वह तो कषायभावों से आकुलतारूप है, इसलिए वह परमार्थ से दु:ख ही है, इसलिए उसकी और मोक्षसुख की एक जाति नहीं है। और स्वर्ग सुख का कारण तो प्रशस्त राग है, जबकि मोक्षसुख का कारण वीतरागभाव है, इसलिए कारण में भी भेद है। ऐसा भाव अज्ञानी को भासित नहीं होता, इसलिए मोक्षतत्त्व का भी उसे सच्चा[१] श्रद्धान नहीं है। ३. जिसकी एक तत्त्व की श्रद्धा में भूल हो, उसकी भूल समस्त तत्त्वों की श्रद्धा में होती है ह्न ऐसा समझना चाहिए।

३) मुक्त आत्मा के सुख की प्रसिद्धि के लिए शरीर सुख का साधन होने का खण्डन ह्न वास्तव में इस आत्मा को सशरीर अवस्था में भी शरीर सुख का साधन होता हुआ ज्ञानी न तो देखते हैं और न ही अनुभव करते हैं। सशरीर अवस्था में भी आत्मा ही सुखरूप परिणति से परिणमित होता है।

१. मोक्षमार्गप्रकाशक (जयपुर से प्रकाशित), अध्याय ७, पृष्ठ २३४, सिद्धदशा में दु:ख के अभाव की सिद्धि के लिए देखो, मोक्षमार्गप्रकाशक अध्याय ३, पृष्ठ ७२–७५

https://AtmaDharma.com & https://AtmaDharma.org

इन्द्रियसुख का भी वास्तविक कारण आत्मा का ही अशुद्ध स्वभाव है। उसमें देह कारण नहीं है। यद्यपि अज्ञानी विषय सुख के साधन हैं ह्न ऐसी बुद्धि के द्वारा विषयों का वृथा अध्यास (आश्रय) करते हैं, तथापि संसार में या मुक्ति में स्वयमेव परिणमित होनेवाले इस आत्मा को विषय क्या करते हैं ? अकिंचित्कर हैं, कुछ भी नहीं करते। अज्ञानी विषयों को सुख का कारण मानकर वृथा ही उनका अवलम्बन[१] करते हैं।

४) केवली और सिद्ध भगवन्तों का सुख वह सुख[२] अतिशय, आत्मोत्पन्न, विषयातीत, अनुपम, अनन्त (अविनाशी) और अविच्छिन्न (अटूट) है। यह सुख निज आत्मस्वरूप उपादान कारण से सिद्ध है।

५) मोक्ष अवस्था ह्न सम्पूर्णत: भावकर्म-द्रव्यकर्मरूप मल-कलंक से रहित तथा शरीर रहित जो आत्मा है, उसे आत्यंतिक स्वाभाविक, अचिन्त्य, अद्‌भुत तथा अनुपम सकल विमल केवलज्ञानादि अनन्त गुणों के स्थानरूप जो विशिष्ट अवस्था है, वह मोक्ष[३] है।

६) भावमोक्ष ह्न यह अवस्था चार घातिया कर्मों का नाश होने पर तेरहवें गुणस्थान में प्रगट[४] होती है।

७) द्रव्यमोक्ष ह्न सिद्ध होने पर शेष समस्त कर्मों का अभाव होता है।

८) अभव्यत्व[५] गुण ह्न स्वशुद्धात्माभिमुख परिणतिरूप (कर्म का घात करने की) बुद्धि किसी भी काल न करे वह अभव्यत्व गुण का लक्षण समझना चाहिए।

१. प्रवचनसार गाथा ६५ से ६८ तथा टीका, बृहद् द्रव्यसंग्रह गाथा ३७ की टीका।
२. प्रवचनसार गाथा १३ की टीका। बृहद् द्रव्यसंग्रह पृष्ठ १७५, उपादान से सिद्ध कहते ही ऐसा समझना चाहिए कि कर्म के अभाव के कारण वह सुख नहीं हुआ है; क्योंकि कर्म परद्रव्य हैं, वे सुख-दु:ख देने में समर्थ नहीं हैं।
३. बृहद् द्रव्यसंग्रह, गाथा ३७, पृष्ठ १७५
४. पंचास्तिकाय गाथा १५१-१५२
५. भव्यत्व और अभव्यत्व ह्न यह जीव के अनुजीवी गुण हैं। देखो पण्डित गोपालदासजी कृत जैनसिद्धान्त प्रवेशिका; आप्त मीमांसा, श्लोक ९९-१०० टीका; बृहद् द्रव्यसंग्रह गाथा ३८ की टीका।

९) कर्मोदय निरन्तर होने से शुद्धात्म भावना नहीं हो सकती ह्न ऐसी शंका सम्बन्धी प्रश्नोत्तर ह्न

प्रश्न : संसारी के निरन्तर कर्मबन्ध और उदय भी होता है, इसलिए जीव को शुद्धात्मभावना का प्रसंग दिखाई नहीं देता, तब फिर उसे मोक्ष तो कहाँ से होगा ?

उत्तर : भगवान का उपदेश संज्ञी पर्याप्त भव्यजीवों के लिए ही होता है, क्योंकि वे धर्म करने की पात्रता रखते हैं। चारों गति के संज्ञी पर्याप्त जीव अनादि से मिथ्यादृष्टि होने पर भी भगवान के उपदेशानुसार यथार्थ पुरुषार्थ करके निश्चयसम्यग्दर्शन प्राप्त कर सकते हैं। संज्ञी पंचेंद्रिय तिर्यंच पाँचवाँ गुणस्थान प्राप्त कर सकते हैं। इस काल में इस क्षेत्र में जन्म लेनेवाले पुरुष सातवें गुणस्थान तक पहुँच सकते हैं और स्त्रियाँ त्रिकाल पाँचवें गुणस्थान तक पहुँच सकती हैं। उसका उपाय निम्नानुसार है ह्न

१. कर्म अचेतन है इसलिए ज्ञान में और कर्म में व्यतिरेकपन है, तथापि आत्मा और कर्म का विवेक न करने वाले शुद्धात्मभावना नहीं कर सकते, परन्तु आत्मा और कर्म के विवेकपने से अपने पुरुषार्थ द्वारा प्रबल कर्म का जीव को संयोग होने पर भी शुद्धनय अनुसार बोध होने मात्र से अपने एक ज्ञायक भाव का अनुभव कर सकता है। भगवान कुन्दकुन्दाचार्य देव श्री समयसार गाथा ११ में कहते हैं कि व्यवहार नय अभूतार्थ है और शुद्धनय भूतार्थ है। जो जीव भूतार्थ का आश्रय करता है, वह निश्चय से सम्यग्दृष्टि होता है। कर्म का स्वभाव ही ऐसा है कि जीव जब इस गाथा में कहे अनुसार पुरुषार्थ करता है, तब उसकी अवस्था उपशमादिरूप हुए बिना नहीं रहती।

२. समयसार कलश १२ में कहा है कि ह्न जगत के प्राणियो ! इस सम्यक् स्वभाव का अनुभव करो, क्योंकि तीनों काल के कर्मबन्ध को अपने आत्मा से शीघ्र भिन्न करके मिथ्यात्व को अपने बल से (पुरुषार्थ से) रोककर (नष्ट करके) अन्तरंग में अपने आत्मा का अनुभव किया जा सकता है।

३. भूल अनादिकालीन कर्मबन्ध के कारण नहीं है, किन्तु अनादि बन्ध

https://AtmaDharma.com & https://AtmaDharma.org

पर्याय के वशीभूत होकर पर के साथ एकत्व का निश्चय करने से ही जीव मूढ़–अज्ञानी है, किन्तु भेदविज्ञान में प्रवीणता करने से ही आत्मज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। अजीव अचेतन कर्म कहीं जीव को आत्मज्ञान करने से रोकते नहीं हैं, वे तो जड़ हैं। स्वयं कौन है और जीव कौन है ह्न इसका तो उसे कोई पता ही नहीं है, इसलिए कर्म का दोष निकालना अन्याय है। यदि कर्मों का दोष होता तो भगवान जीवों को उपदेश न देते, किन्तु जीवों का ही दोष है, इसलिए भगवान ने जीवों को दोष बतलाकर उन दोषों को दूर करने के लिए निर्मल भेदज्ञान द्वारा पराश्रय छोड़कर निज का आश्रय करने का उपदेश जीव को दिया है।

४. आत्मा और कर्म के एकत्व का अध्यास जिनका मूल है, ऐसे मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति, योगस्वरूप अध्यवसान विद्यमान हैं, वे राग–द्वेष–मोहस्वरूप आस्रवभाव के कारण हैं, इसलिए संसार हैं। परन्तु जीव जब आत्मा और कर्म के भेदविज्ञान के द्वारा शुद्धात्मा को उपलब्ध करता है, तब आस्रवभावों के कारणों का अभाव होता है। समयसार गाथा १९०–१९१–१९२ तथा टीका में तथा पंचास्तिकाय गाथा १५०–१५१ की टीका में श्री अमृतचन्द्राचार्य तथा श्री जयसेनाचार्य कहते हैं कि जीव अनादि से कर्म वश हुआ है, किन्तु यदि वह आत्माभिमुख (स्वसन्मुख) हो तो दर्शनमोह और अनन्तानुबन्धी की कर्मप्रकृति उपशमादि अवस्था को अवश्य प्राप्त होगी ही।

५. श्री समयसार गाथा ३१४, ३१५ के भावार्थ में कहा है कि जब तक आत्मा अपने और पर के स्वलक्षण को नहीं जानता, तब तक वह भेदज्ञान के अभाव के कारण कर्म प्रकृति के उदय को अपना समझकर परिणमित[१] होता है। इस प्रकार मिथ्यादृष्टि ज्ञानी असंयमी होकर, कर्ता होकर कर्म का बंध करता है और जब आत्मा को भेदज्ञान होता है, तब वह कर्ता नहीं होता, इसलिए कर्म का बंध नहीं करता, ज्ञाता–दृष्टारूप से परिणमित होता है।

६. श्री समयसार गाथा ३१६ के भावार्थ में कहा है कि ह्न अज्ञानी को शुद्ध

१. कर्मोदय के वश परिणमित होना कहो या कर्मप्रकृति के उदय को अपना समझकर परिणमित होना कहो ह्न वह दोनों एकार्थवाची हैं।

आत्मा का ज्ञान नहीं है, इसलिए जो कर्म उदय में आए उसी को अपने रूप जानकर भोगता है, किन्तु ज्ञानी को तो शुद्ध आत्मा का अनुभव हो गया है, इसलिए वह प्रकृति के उदय को अपना स्वभाव न जानते हुए उसका ज्ञाता ही रहता है, भोक्ता नहीं होता।

७. श्री समयसार गाथा ७४ की टीका में बतलाया है कि आस्रव और जीव का भेदज्ञान करता है, तब (उसी कारण से) कर्मविपाक शिथिल हो जाता है, और जिसमें कर्मविपाक शिथिल हो गया है, ऐसा आत्मा सामूहिक बादलों की रचना जिसमें खंडित हो गई है, ऐसे दिशा के विस्तार की भाँति, अमर्याद जिसका विस्तार है, ऐसा सहजरूप से विकास प्राप्त करने वाली चित् शक्ति द्वारा ज्यों–ज्यों विज्ञानघन होता जाता है, त्यों–त्यों आस्रवों से निवृत्त होता जाता है।

८. प्रयोजनभूत जीवादि तत्त्वों का श्रद्धान करने के योग्य ज्ञान का विकास सभी पंचेन्द्रिय जीवों के हुआ है। तत्त्वविचारादि करने योग्य ज्ञानावरण का क्षयोपशम उनके हुआ है, इसीलिए वहाँ उपयोग को लगाने का उद्यम करने के लिए भगवान का उपदेश है। असंज्ञी जीवों के वैसा क्षयोपशम नहीं है, इसलिए उन्हें उपदेश किसलिए दें ? संज्ञी पर्याप्त जीवों के निर्णय करने की शक्ति प्रगट हुई है। जहाँ उपयोग लगाए उसी का निर्णय हो सकता है और उपयोग नहीं लगाता है, यह तो उसका अपना ही दोष है, वहाँ कर्म का कोई प्रयोजन नहीं है।

९. सम्यक्त्व का घातक दर्शनमोह कर्म है और चारित्र का घातक चारित्रमोह कर्म है, इसलिए उसका अभाव हुए बिना मोक्ष का उपचार कैसे हो सकता है ? इस शंका का समाधान यह है कि यदि सत्य पुरुषार्थपूर्वक तत्त्वनिर्णय करने में उपयोग लगाया जाय तो स्वयं ही दर्शनमोह और चारित्रमोह का अभाव हो जाता है। जब जीव सत्य पुरुषार्थ करता है, तब मोहकर्म की स्थिति और अनुभाग कम होता है और क्रमशः पुरुषार्थ बढ़ते–बढ़ते उन कर्मों का अभाव हो जाता है। इसलिए तत्त्वनिर्णय करने में उपयोग लगाने का पुरुषार्थ करना चाहिए और उपदेश भी यही पुरुषार्थ करने के लिए दिया जाता है। इस पुरुषार्थ

https://AtmaDharma.com & https://AtmaDharma.org

से मोक्ष-पुरुषार्थ की सिद्धि स्वयमेव हो जाती है। (देखो, मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ १११, २८९, ४५६-४५७)

नोट ह्न बृहद् द्रव्यसंग्रह की गाथा ३८ की टीका में कहा है कि जब कर्मों का स्थिति-अनुभागबन्ध हीयमान किया जाता है, तब धर्म का पुरुषार्थ हो सकता है, किन्तु वहाँ यह नहीं बतलाया कि उसके लिए क्या उपाय करना चाहिए, इसलिए यहाँ विस्तार से यह उपाय बताया गया है ।।३७।।

पुण्य और पाप का लक्षण

सुहअसुहभावजुत्ता पुण्णं पावं हवंति खलु जीवा।
सादं सुहाउ णामं गोदं पुण्णं पराणि पावं च ।।३८।।

शुभाशुभपरिणामयुत जिय पुण-पाप सातावेदनी।
शुभ आयु नामरु गोत्र पुण अवशेष तो सब पाप हैं ।।३८ ।।

अन्वयार्थ ह्न (जीवा) जीव **(सुहअसुहभावजुत्ता)** शुभ और अशुभ भावों में युक्त होकर **(पुण्णं)** पुण्यरूप और **(पावं)** पापरूप **(हवंति)** होते हैं **(सादं)** साता-वेदनीयकर्म **(सुहाउ)** शुभ आयु **(णामं)** शुभ नाम **(गोदं)** शुभ गोत्र-उच्चगोत्र, यह सब **(पुण्णं)** पुण्य प्रकृतियाँ हैं **(च)** और **(पराणि)** असाता वेदनी, अशुभ आयु, अशुभ नाम और नीच गोत्र तथा चार घातिया कर्म **(पावं)** पाप प्रकृतियाँ हैं।

(ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अंतराय ह्न यह चार घातिया कर्म पापरूप हैं और वेदनीय, आयु, नाम तथा गोत्र ह्न यह चार अघातिया कर्म पुण्य और पाप दोनों रूप हैं।)

भावार्थ ह्न १) पुण्य-पाप ह्न १. दया, दान, भक्ति, पूजा, व्रत इत्यादि के शुभभाव (मंद कषायरूप) जीव के होते हैं, वे अरूपी अशुद्धभाव हैं, भावपुण्य हैं। उस समय साता वेदनीय, शुभ नाम आदि कर्मयोग्य परमाणुओं का समूह स्वयं, स्वतः एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध से जीव के साथ बंधता है, वह द्रव्य पुण्य है। उसमें जीव का पुण्यरूप अशुद्धभाव निमित्तमात्र है।

२. मिथ्यात्व, हिंसा, असत्य, चोरी इत्यादि के अशुभ-भाव जीव के होते हैं, वे अरूपी अशुद्धभाव हैं, भावपाप हैं। उस समय असातावेदनीय, अशुभ नाम आदि कर्मयोग्य परमाणुओं का समूह स्वयं-स्वतः एकक्षेत्रावगाह सम्बन्ध से जीव के साथ बँधता है, वह द्रव्यपाप है। (उसमें जीव का पापरूप अशुद्धभाव निमित्त है।)

२) पुण्य-पापभाव के द्वारा घातिकर्मों का बन्ध निरन्तर होता है। शुभाशुभ भावों द्वारा पुण्य-पाप के विशेष तो अघाति कर्मों में होते हैं, किन्तु अघाति कर्म कहीं आत्मगुण के घातक नहीं हैं। फिर शुभाशुभ कर्मों में घातिकर्मों का बन्ध तो निरन्तर होता है। जो सर्व पापरूप[1] ही है और वही आत्मगुण का घातक है, इसलिए जो अशुद्ध (शुभाशुभ) भावों के द्वारा कर्मबन्ध होता है, उसे भला-बुरा मानना सो यही मिथ्या श्रद्धान है, और ऐसे श्रद्धान से पुण्य-पाप तत्त्वों की भी सत्य श्रद्धा नहीं होती। (यहाँ कर्म को घातक कहा है, इसका मतलब ऐसा समझना चाहिए कि वह जीव जब अपने भाव का घातक होता है, तब द्रव्यकर्म पर निमित्त के रूप में घातकपने का आरोप होता है।)

३) वास्तविक स्वरूप ह्न परमार्थतः (वास्तव में) पुण्य-पाप भाव आत्मा को अहितकर हैं। सम्यग्दृष्टि के पुण्यभाव से (शुभोपयोग से) आंशिक संवर-निर्जरा होती है, यह मान्यता मिथ्या है।

४) श्रावक-मुनि की शुभक्रियासम्बन्धी स्पष्टता ह्न किसी को ऐसी भ्रान्ति होती है कि मिथ्यादृष्टि को जो यतिपने की क्रिया है, सो तो बन्ध का कारण है, किन्तु सम्यग्दृष्टि के जो यतिपने की शुभ क्रिया है, सो मोक्ष का कारण है, क्योंकि अनुभवज्ञान तथा दया, व्रत, तप, संयमरूप क्रिया ह्न दोनों मिलकर ज्ञानावरणादि कर्मों का क्षय करते हैं। ऐसी प्रतीति कोई अज्ञानी जीव करते हैं। उसका समाधान यह है कि ह्न जितनी शुभ-अशुभ क्रिया, बहिर्जल्परूप

१. मोक्षमार्गप्रकाशक (जयपुर से प्रकाशित), पृष्ठ २४-२७

https://AtmaDharma.com & https://AtmaDharma.org

विकल्प अथवा अंतर्जल्परूप विकल्प या द्रव्य का विचार अथवा शुद्ध स्वरूप का विचार इत्यादि समस्त कर्म बन्ध के कारण हैं। ऐसी क्रिया का यही स्वभाव है। उसमें सम्यग्दृष्टि या मिथ्यादृष्टि का कोई भेद नहीं होता। ऐसी क्रिया से दोनों के बन्ध होता है। केवल शुद्ध स्वरूप[1] परिणमन से ही मोक्ष होता है।

यद्यपि एक ही काल में सम्यग्दृष्टि जीव के शुद्धज्ञान (वीतरागी अंश) भी है और क्रियारूप परिणाम भी हैं। वहाँ क्रियारूप परिणाम से अकेला बन्ध होता है, कर्म का क्षय एक अंशमात्र भी नहीं होता ह्न ऐसा वस्तुस्वरूप है। त्रिकाल में शुद्धस्वरूप अनुभवज्ञान के द्वारा कर्म क्षय होता है, एक अंशमात्र भी बन्ध नहीं होता। वस्तु का ऐसा ही स्वरूप है। क्रियारूप परिणाम से संवर, निर्जरा अंशमात्र भी नहीं होते, अपितु उनसे ज्ञानावरणादि कर्मों का बन्ध होता है।

५) पुण्य-पाप में व्यवहारनय से विशेष होने पर भी निश्चय से (भेद) नहीं है ह्न शुभोपयोग साध्य जो इन्द्रियसुख है, वह निश्चय से (वास्तव में) दुःख है। व्यवहारनय से विशेष होने पर भी निश्चयनय से यह प्रसिद्ध है कि शुद्धोपयोग से विलक्षण ऐसे शुभाशुभोपयोग में किसी प्रकार से भी भिन्नता नहीं हो सकती। शुभाशुभ उपयोग के द्वैत की भाँति और सुख-दुःख के द्वैत की भाँति परमार्थ से पुण्य-पाप का द्वैत नहीं टिकता, क्योंकि दोनों में अनात्मधर्मता समान है। इस प्रकार पुण्य-पाप में कोई अंतर[3] नहीं है ह्न ऐसा जो नहीं मानता, वह मोहाच्छादित होता हुआ घोर अपार संसार में परिभ्रमण करता है, दुःख का ही अनुभव करता है।।३८।।

ह्न

१. समयसार कलश टीका, जयपुर से प्रकाशित, पृष्ठ ८८-८९, कलश ११०। पुण्य-पाप अधिकार, कलश ११

परिशिष्ट

आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य, पाप सम्बन्धी सच्ची श्रद्धा के लिए नय (दृष्टिकोण) द्वारा स्पष्टतः ह्न १. निश्चयनय और व्यवहारनय दोनों को उपादेय मानना भी भ्रम है, क्योंकि निश्चय-व्यवहार का स्वरूप तो परस्पर विरोधता सहित है। श्री समयसार (गाथा ११) में भी ऐसा कहा है कि ह्न ''ववहारोऽभूयत्थो भूयत्थो देसिदो दु शुद्धणओ।''

अर्थ ह्न व्यवहार अभूतार्थ है, सत्य स्वरूप का निरूपण नहीं करता, किन्तु किसी अपेक्षा से उपचार से अन्यथा निरूपण करता है और निश्चय शुद्धनय है, भूतार्थ है, क्योंकि वह जैसा वस्तु का स्वरूप है, वैसा ही निरूपण करता है। इस प्रकार दोनों का स्वरूप विरुद्धता सहित है। (मोक्षमार्गप्रकाशक, अध्याय ७, पृष्ठ ३६६)

२. निश्चय निरूपण को सत्यार्थ मानकर उसका श्रद्धान अंगीकार करना चाहिए। व्यवहार निरूपण को असत्यार्थ मानकर उसका श्रद्धान छोड़ना चाहिए।

३. अ) निश्चय का निश्चयनयरूप तथा व्यवहार का व्यवहाररूप श्रद्धान करना योग्य है। आ) निश्चयनय द्वारा जो निरूपण किया हो, उसे तो सत्यार्थ मानकर उसका श्रद्धान अंगीकार करना चाहिए। तथा व्यवहारनय द्वारा जो निरूपण किया हो, उसे असत्यार्थ मानकर उसका श्रद्धान छोड़ना चाहिए।

इसलिए व्यवहारनय का श्रद्धान छोड़कर निश्चय का श्रद्धान करना योग्य है।

४. और फिर व्यवहारनय स्वद्रव्य-परद्रव्य को या उसके भावों[1] को या कारण-कार्यादि को किसी का किसी में मिलाकर निरूपण करता है, इसलिए ऐसे ही श्रद्धान से मिथ्यात्व है, अतः उसका त्याग करना चाहिए।

५. और फिर निश्चयनय[2] उसी का यथावत् निरूपण करता है, तथा किसी

१. देखो, समयसार गाथा ५६, जीव के औपाधिक भावों का अलवम्बन करके प्रवृत्त होता हुआ (वह व्यवहारनय) दूसरे के भाव को दूसरे का कहता है।

२. देखो, समयसार गाथा ५६, निश्चयनय द्रव्य के आश्रित होने से, केवल एक जीव के स्वाभाविक भाव का अवलंबन करके वर्तता हुआ दूसरे के भाव को किंचित् भी दूसरे का नहीं कहता, निषेध करता है।

https://AtmaDharma.com & https://AtmaDharma.org

को किसी में नहीं मिलाता, इसलिए ऐसे ही श्रद्धान से सम्यक्त्व होता है। अत: उसका श्रद्धान करना चाहिए। (मोक्षमार्गप्रकाशक, अध्याय ७, पृष्ठ ३५९)

६. व्यवहारनय ह्न जिनवाणी में व्यवहारनय का उपदेश शुद्धनय का हस्तावलम्बन[1] जानकर बहुत किया है, किन्तु उसका फल संसार[2] ही है। (श्री समयसार गाथा ११, भावार्थ, पृष्ठ २५)

७. व्यवहारनय को अशुद्धनय[3] भी कहते हैं। अशुद्धनय को हेय कहा है, क्योंकि अशुद्धनय का विषय संसार है और संसार में आत्मा क्लेश भोगता है। (श्री समयसार गाथा ६, भावार्थ, पृष्ठ १७)

८. व्यवहार धर्म ह्न अभेद रत्नत्रयमय ही मोक्षमार्ग निश्चय से कर्मबन्ध छेदक है। व्यवहार रत्नत्रयधर्म वह शुभोपयोग का विकल्प है, पुण्यबन्धकारक[4] है, मोक्षकारक नहीं है। (श्री राजमलजी कृत समयसार कलश १०३, कलश टीका, पृष्ठ १०४, पुण्य-पाप एकत्व अधिकार, कलश ४)। भावलिंगी मुनीश्वरों को ह्न श्रावकों को व्यवहार धर्मरूप शुभक्रिया भी मोक्षमार्ग[5] नहीं है, बन्ध का मार्ग है। शुभक्रिया में रहने से जीव विकल्पी है, इसलिए दु:खी है। (श्री समयसार कलश १०४ कलश-टीका, पृष्ठ १०५, पण्डित बनारसीदासजी कृत समयसार नाटक, पुण्य-पाप एकत्व अधिकार, कवित्त ८)।

९. व्यवहारधर्म[6] ज्ञानी को बन्ध का हेतु अर्थात् बन्ध का मार्ग है। (कलश टीका सूरत से प्रकाशित, पृष्ठ १०५) और वह कम्बल में चित्रित नाहर की भाँति कथनमात्र नाहर है, उसी प्रकार व्यवहारचारित्र कथनमात्र चारित्र है,

१. हस्तावलम्ब = प्रतिपादक, बहिरंग साधक, बहिरंग सहकारी कारण, निमित्त, बाह्य हेतु।
२. संसार = आस्रव, बंध।
३. ''अशुद्ध द्रव्य का कथन करने वाला होने से जिसने भिन्न-भिन्न एक-एक भावस्वरूप अनेक भाव बतलाए हैं, ऐसा व्यवहारनय।'' (श्री समयसार गाथा १२, टीका, पृष्ठ २६)
४. पुण्यबन्ध के साथ ज्ञानावरणादि चारों घातिकर्म, जो कि पापकर्म हैं, उनका बन्ध होता है।
५. मोक्षमार्ग नहीं है = संवर-निर्जरा नहीं है, आस्रव-बन्ध हैं।
६. व्यवहारधर्म = व्यवहारनय से कहा हुआ धर्म।

किन्तु वह वास्तव में चारित्र नहीं है। वह कर्मक्षपण का कारण नहीं है, बन्ध का कारण है। यहाँ ऐसी श्रद्धा कराई है कि मोक्षमार्ग मात्र आत्मिक वीतरागभाव है। अति सूक्ष्म रागरूप वर्तन बन्ध का कारण है, कर्म की निर्जरा का कारण नहीं है। (राजमलजी कृत समयसार कलश टीका, सूरत, पृष्ठ १०९)।

१०. व्यवहारधर्म की क्रिया ह्न ज्ञानी को मोक्षपंथ[1] की काटने वाली है, बन्ध की क्रिया है, बाधक है, विचार में निषिद्ध है। (श्री समयसार नाटक पुण्य-पाप अधिकार, कवित्त-१२) वह भली है ह्न ऐसी भ्रान्ति[2] नहीं करनी चाहिए। (कलश-टीका पृष्ठ १११) सम्यग्दृष्टि को वह क्रिया चारित्रमोह के बलात्कार से होती है, ज्ञानावरणादि[3] कर्मबन्ध करती है, संवर-निर्जरा अंशमात्र नहीं करती।

व्यवहारनय ह्न ज्ञाता को ज्ञान के विभाग[4] की क्लिष्ट कल्पना से क्या प्रयोजन है ? (श्री प्रवचनसार गाथा ३५)

व्यवहारनय आदरणीय नहीं है, (प्रवचनसार गाथा ३४, गाथा ९८) क्योंकि उसमें भेद वासना है। (श्री समयसार गाथा ११)

११. भावलिंगी मुनि को जो शुभोपयोग वर्तता है, वह कषायकण अविनष्ट होने से आस्रव ही है। (प्रवचनसार गाथा २४५)। वह शुभोपयोग शुद्धात्मपरिणति से विरुद्ध ऐसे राग के साथ सम्बन्धवाला है (प्रवचनसार गाथा २५३)। वह अग्नि से गर्म हुए घृत समान होने दाहदु:ख उत्पन्न करता है। (प्रवचनसार गाथा ११)

१२. व्यवहारनय ह्न इस प्रकार इस पद्य द्वारा परम जिन योगीश्वर ने वास्तव में ''व्यवहार आलोचना के प्रपंच का उपहास[5] किया है।'' (नियमसार श्लोक १५५ के नीचे की टीका, पृष्ठ २१५)।

१. मोक्षपंथ = संवर-निर्जरा।
२. भ्रान्ति = असत्य श्रद्धा, उल्टी-विपरीत श्रद्धा।
३. ज्ञानावरणादि चारों घातिकर्म पापकर्म हैं।
४. ऐसा भेद भी क्लेश उत्पन्न करता है अर्थात् आस्रव है, बन्ध का कारण है। संवर-निर्जरा का कारण नहीं है।
५. उपहास = हँसी, व्यंग, तिरस्कार।

https://AtmaDharma.com & https://AtmaDharma.org

१३. व्यवहारनय ह्न ''यहाँ स्वस्वामीरूप अंशों के व्यवहार से क्या साध्य ? कुछ भी नहीं।'' (ऐसा छह बार श्री समयसार गाथा ३५१ से ३६५ की टीका में पृष्ठ ४९२ से ४९६ में कहा है।)

१४. सर्व व्यवहार छोड़ने योग्य है। (योगसार गाथा ३७, ५५, ८९)।

१५. निश्चयनय ह्न (१) भूतार्थ है, उसी के आश्रय से सम्यग्दर्शन[1] होता है। (श्री समयसार गाथा ११)।

(२) परमार्थ के आश्रय से मुनियों के कर्मों का नाश आगम में कहा है। (श्री समयसार गाथा १५६ तथा टीका, पृष्ठ २४४)

(३) निश्चयनय के आश्रय से मुनि निर्वाण की प्राप्ति करते हैं। (श्री समयसार गाथा २७२ टीका, पृष्ठ ३९३)।

(४) शुद्धनय के ग्रहण का फल मोक्ष[1] है। (समयसार गाथा ११, भावार्थ पृष्ठ २५)।

(५) शुद्धनय भूतार्थ है, सत्यार्थ है। उसका आश्रय करने से सम्यग्दृष्टि हुआ जा सकता है। (समयसार गाथा ११, भावार्थ, पृष्ठ २५)।

(६) सकल व्यावहारिक चारित्र से तथा उसके फल की प्राप्ति से प्रतिपक्ष ऐसा शुद्ध निश्चयनयात्मक चारित्र है। (नियमसार-निश्चयप्रतिक्रमण उत्थानिका, पृष्ठ १४९)।

(७) व्यवहार ह्न छह आवश्यक से प्रतिपक्ष शुद्धनिश्चय आवश्यक है। (नियमसार गाथा ११, उत्थानिका, पृष्ठ २१२)।

(८) निश्चयधर्म ह्न (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र) व्यवहारधर्म से परमनिरपेक्ष है। (नियमसार गाथा २, पृष्ठ ७, गाथा ९३, पृष्ठ १७७, गाथा १८७, पृष्ठ ३७३।) (श्री समयसार कलश टीका सूरत, पृष्ठ १७)।

१. सम्यग्दर्शन होने से संवर-निर्जरा का प्रारम्भ होता है और शुद्धि बढ़ने से संवर-निर्जरा में वृद्धि होती है, अन्त में मोक्ष होता है।

(९) समस्त कर्म के प्रलय[1] का हेतुभूत शुद्धोपयोग है। (नियमसार, गाथा १२, उत्थानिका, पृष्ठ ३१८)।

(१०) शुद्धोपयोग द्वारा भेदवासना की प्रगटता का प्रलय[1] होता है, शुद्धोपयोग का विरोधी शुभ-अशुभ उपयोग है। (प्रवचनसार गाथा ९१ टीका।)

(११) 'पुरुषमेव' ह्न आत्मा ही अभेदनय से शुद्धनय का विषय होने से शुद्धात्मसाधक[2] होने से तथा शुद्ध परिणाम होने से शुद्ध है ह्न ऐसा जानो। (समयसार गाथा १४, जयसेनाचार्य टीका)

(१२) शुद्धनय कहो, आत्मा की अनुभूति कहो, आत्मा कहो, एक ही है, भिन्न नहीं है। (समयसार गाथा १७, पृष्ठ ३०)।

(१३) निश्चय से मेरा आत्मा ही संवर है। (समयसार गाथा २७७, नियमसार गाथा १००, पृष्ठ १९२-१९३, पृष्ठ ४२०)।

इस प्रकार नवतत्त्वों का सच्चा स्वरूप समझने के लिए निश्चय और व्यवहार नय का यथार्थ ज्ञान करना चाहिए।

* परिशिष्ट समाप्त *

तीसरे अधिकार की भूमिका

१) प्रथम अधिकार में छह द्रव्यों का और पाँच अस्तिकायों का वर्णन किया, उसके साथ नयों का स्वरूप भी समझाया। इस प्रकार जीव और अजीव इन दो तत्त्वों की पहिचान कराई। शास्त्रों का प्रयोजन वीतरागता है और वह जीवों को अनन्त दुःखों से छुड़ाने वाली है, इसलिए जिन भावों का श्रद्धान करने से मोक्ष होता है तथा जिनका श्रद्धान किए बिना मोक्ष नहीं होता, उन आस्रवादि तत्त्वों का स्वरूप द्वितीय अधिकार में कहा है।

२) इस अधिकार में मोक्ष का उपाय समझाया गया है, क्योंकि उपाय किए बिना मोक्षरूप फल की प्राप्ति नहीं होती।

१. संवर-निर्जरापूर्वक मोक्ष होता है।

२. शुद्धात्म साधक = संवर-निर्जरा मोक्ष का सच्चा कारण है।

https://AtmaDharma.com & https://AtmaDharma.org

३) इस सम्बन्ध में विचारणीय प्रश्न यह है कि मोक्ष के उपाय कितने हैं ? इसका उत्तर यह है कि ह्न ''एक होय त्रण कालमां परमारथनों पंथ'' मोक्ष का उपाय एक ही है, दो या अधिक नहीं हैं। श्री प्रवचनसार ज्ञान-अधिकार गाथा ८२, ज्ञेय अधिकार गाथा ११९ तथा चरणानुयोग अधिकार गाथा २४२ ह्न इन तीनों अधिकारों में स्पष्टरूप से भगवान कुन्दाकुन्दाचार्यदेव ने ऐसा कहा है और उसका अनुसरण करके इस शास्त्र में भी वैसा ही बतलाया है।

४) गाथा ३७ में मोक्ष का स्वरूप कहा जा चुका है। आत्मा का परिपूर्ण सुख प्रगट होना सो मोक्ष है। उसे कार्य-समयसार अथवा कार्यपरमात्मा भी कहा जाता है। वह आत्मा की परिपूर्ण शुद्ध दशा है, इसलिए उसका उपाय भी 'शुद्ध' ही हो सकता है। श्री प्रवचनसार की अन्तिम पाँच गाथाएँ जिन्हें 'निर्मल पाँच रत्न' कहा जाता है, उनमें से गाथा २७४ में ''शुद्ध को ही श्रामण्य कहा है ह्न शुद्ध को दर्शन-ज्ञान कहा है, शुद्ध को निर्वाण होता है, वही (शुद्ध ही) सिद्ध होता है, उसे नमस्कार हो'' ह्न ऐसा कहा है। श्री परमात्मप्रकाश गाथा ६७, अध्याय २ में भी ऐसा ही कहा है। इसलिए शुद्ध ही मोक्ष का उपाय ह्न मोक्ष का पंथ-मोक्ष का मार्ग है, ऐसा निश्चय करना चाहिए।

५) श्री मोक्षमार्गप्रकाशक अध्याय ७, पृष्ठ ३६५ में भी कहा है कि ह्न ''अब मोक्षमार्ग कहीं दो नहीं हैं, किन्तु मोक्षमार्ग का निरूपण दो प्रकार से है। जहाँ सच्चे मोक्षमार्ग को 'मोक्षमार्ग' निरूपण किया है, वह निश्चयमोक्षमार्ग है, तथा जहाँ जो मोक्षमार्ग तो नहीं है, किन्तु मोक्षमार्ग का निमित्त तथा सहचारी है, उसे उपचार से मोक्षमार्ग कहते हैं, वह व्यवहारमोक्षमार्ग है, क्योंकि निश्चय-व्यवहार का सर्वत्र ऐसा ही लक्षण है अर्थात् सच्चा निरूपण सो निश्चय और उपचार निरूपण सो व्यवहार।''

६) एक ही मोक्षमार्ग होने पर भी उसका निरूपण दो प्रकार से होने का कारण यह है कि सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक जो चारित्र है, यह सच्चा और एक ही मोक्षमार्ग है। वहाँ चारित्र की पर्याय अंशत: वीतरागरूप 'शुद्ध' और अंशत: सरागरूप 'शुभ' इन दोनों अंशों का ज्ञान न कराया जाय तो चारित्र की उस

पर्याय का सच्चा ज्ञान होगा ही नहीं, इसलिए 'प्रमाणज्ञान' करने के लिए दोनों अंशों का ज्ञान अवश्य होना ही चाहिए। फिर प्रत्येक कार्य के लिए उपादान और निमित्त दोनों कारण भी जानना चाहिए। यदि दो में से एक भी कारण में भूल हो तो दोनों कारणों में भूल होगी ही, इसलिए दोनों अंशों का यथार्थ निर्णय आवश्यक है।

७) इस नियम का अनुसरण करके इस शास्त्र में भी सच्चा मोक्षमार्ग एक ही कहा है और वह निश्चयमोक्षमार्ग है, किन्तु उसका निरूपण दो प्रकार से किया है। वह 'शुद्ध' (वीतरागी अंश) और शुभ (सरागी अंश) बतलाने के लिए किया है।

८) मुनिराज की मुख्यता से यहाँ निश्चय मोक्षमार्ग कहा है, इसलिए निचले गुणस्थानों में निश्चय मोक्षमार्ग नहीं होता ह्न ऐसा नहीं समझना चाहिए। निचले पाँचवे-छठे गुणस्थानों में 'असमग्र रत्नत्रय' होता है ह्न ऐसा पुरुषार्थ-सिद्ध्युपाय गाथा २११, नियमसार गाथा १३४, श्री समयसार गाथा ४१०, ४११-४१४ तथा चारित्र पाहुड़ गाथा २१ में कहा है। श्री बृहद् द्रव्यसंग्रह टीका में गाथा ४१ में कहा है कि ह्न ''बाह्य-अभ्यन्तर दोनों प्रकार के रत्नत्रय को धारण करने वाले मुनि, आर्यिका, श्रावक तथा श्राविका इस चतुर्विध संघ में गाय को बछड़े में प्रीति होती है, उस समान ...।'' उसी पृष्ठ पर स्थितिकरण की व्याख्या करते हुए कहा है कि ह्न ''भेदाभेद रत्नत्रय के धारक मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका ह्न इन चार का संघ है। ....

९) इस सम्बन्ध में विशेष आधार निम्न प्रकार हैं ह्न

१. श्री प्रवचनसार, चरणानुयोग अधिकार, गाथा ४८, रायचन्द शास्त्रमाला, जयसेनाचार्य टीका, पृष्ठ ३४२ ह्न ''श्रावकों के प्रचुरता से शुभोपयोग होता है, इसलिए यद्यपि वे किसी-किसी काल में शुद्ध उपयोग भावना करते हैं, तथापि शुभोपयोगी कहे जाते हैं।'' (भावना = एकाग्रता)

२. श्री प्रवचनसार गाथा ११, जयसेनाचार्य की संस्कृत टीका, पृष्ठ १३, ''रत्नत्रयात्मक धर्म सागार-अनगार के होता है।''

https://AtmaDharma.com & https://AtmaDharma.org

३. भावापाहुड़ गाथा ६६ में कहा है कि ह्न ''श्रावकत्व और मुनित्व के कारणभूत भाव ही हैं।''

४. मोक्षपाहुड़ गाथा १०६ हिन्दी टीका पाटनी ग्रंथमाला, पृष्ठ ३६० में कहा है कि ह्न ''इस प्रकार सर्व कर्मों के अभावरूप मोक्ष होता है, उसका कारण सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र कहा जाता है, उसकी प्राप्ति चौथे गुणस्थान में सम्यक्त्व प्रगट होने पर एकदेश कही है।''

५. नियमसार गाथा १४९, पृष्ठ ३००-३०१ में कहा है कि ह्न अन्तरात्मा के निश्चय आवश्यक होता है। टीका में कहा है कि असंयतसम्यग्दृष्टि जघन्य अन्तरात्मा है अर्थात् उसके निश्चय-व्यवहारनय से आवश्यक होते हैं।

६. श्री योगीन्द्रदेव कृत योगसार गाथा ६५ में कहा है कि ह्न ''श्रावक हो यो मुनि हो, जो भी निज आत्मा में वास करता है, वह शीघ्र सिद्धिसुख को प्राप्त होता है ह्न ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है।''

७. राजमल्लजीकृत, सूरत से प्रकाशित श्री समयसार कलश-टीका में जीव अधिकार में कलश ३१ की टीका, पृष्ठ ४४ में निम्नानुसार कहा है ह्न ''और फिर कैसा है आत्मा ? दर्शनज्ञानवृतैः कृतपरिणतिः ह्न दर्शन अर्थात् श्रद्धा, रुचि, प्रतीति, ज्ञान अर्थात् ज्ञातृत्व, चारित्र अर्थात् शुद्धपरिणति ऐसे जो रत्नत्रय उनका कृत अर्थात् किया है, परिणति अर्थात् परिणमन, जो ऐसा है।''

भावार्थ ह्न इस प्रकार ''मिथ्यात्वपरिणति का त्यागी होने पर शुद्ध स्वरूप का अनुभव होने से साक्षात् रत्नत्रय घटित होता है।'' आगे कहा है कि (भावार्थह्न) इस प्रकार ''सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः'' ह्न ऐसा जो कहा है, वह सब जैन सिद्धान्त में है और वही प्रमाण है।''

इससे सिद्ध होता है कि चतुर्थ गुणस्थान में मिथ्यात्व का त्याग होते ही साक्षात्* रत्नत्रय प्रगट होता है और फिर उसी शास्त्र में कलश ६ की टीका, पृष्ठ १३ में भी इसी प्रकार कहा है।

* साक्षात् = श्रद्धा अपेक्षा निश्चयधर्म अर्थात् मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कषाय के अभावरूप आंशिक निश्चयमोक्षमार्ग चतुर्थ गुणस्थान से प्रारम्भ होता है।

तृतीय अधिकार

मोक्षमार्ग का दो प्रकार से निरूपण*

सम्मद्दंसणं णाणं चरणं मोक्खस्स कारणं जाणे।
ववहारा णिच्चयदो तत्तियमइओ णिओ अप्पा ।।३९।।
सम्यग्दरशसद्ज्ञानचारित्र मुक्तिमग व्यवहार से।
इन तीन मय शुद्धातमा है मुक्तिमग परमार्थ से ।।३९।।

अन्वयार्थ ह्न **(ववहारा)** व्यवहार नय से **(सम्मद्दंसणं)** सम्यग्दर्शन **(णाणं)** सम्यग्ज्ञान और **(चरणं)** सम्यक्चारित्र को **(मोक्खस्स)** मोक्ष का **(कारणं)** कारण **(जाणे)** जानो, **(णिच्चयदो)** निश्चयनय से **(तत्तियमइओ)** सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र ह्न इन तीनों की एकतारूप **(णिओ)** अपना **(आत्मा)** आत्मा मोक्ष का कारण है।

भावार्थ ह्न १) गाथा ८-९ का गाथा ३४, ३५ व ३६ के साथ संबंध ह्न गाथा ८ में कहा है कि जीव शुद्ध भावों का शुद्धनय से कर्ता है और गाथा ९ में कहा है कि अपने शुद्ध भावों का शुद्धनय से भोक्ता है। इस अनुसन्धान में यह समझना चाहिए कि जीव निश्चयमोक्षमार्ग का कर्ता-भोक्ता स्वयं ही है, क्योंकि वह जीव का शुद्ध भाव है। गाथा ३४-३५-३६ में संवर-निर्जरा का स्वरूप कहा है। संवर-निर्जरा निश्चय मोक्षमार्ग है और उसके धारक मुख्यत: मुनिराज हैं, इसलिए निश्चय मोक्षमार्ग का दूसरा नाम एकाग्रता लक्षण श्रामण्य[१] भी है।

* ''सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः'' ह्न सम्यग्दर्शन आदि तीनों मिलकर मोक्षमार्ग है। सम्यग्दर्शन इत्यादि पृथक्-पृथक् मोक्षमार्ग नहीं हैं। जैसे कोई रोगी केवल औषधी पर विश्वास करने से अथवा उसका ज्ञानमात्र करने से या उसका आचरण-सेवन करने से निरोग नहीं हो जाता, उसी प्रकार सम्यग्दर्शन इत्यादि में से किसी एक का सेवन करने से मोक्ष नहीं होता।

१. प्रवचनसार, गाथा २४२

https://AtmaDharma.com & https://AtmaDharma.org

२) इस गाथा तथा ४० वीं गाथा में कथित निश्चय मोक्षमार्ग ह्न इस गाथा में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकतारूप निज आत्मा को मोक्षमार्ग कहा है और गाथा ४० में यह बताया है कि तीनों की एकतारूप आत्मा मोक्षमार्ग (मोक्ष का कारण) कैसे है।

प्रवचनसार की गाथा २४२ की टीका में द्रव्यप्रधान निश्चयनय से जो प्रज्ञापन है, यह गाथा उनका अनुसरण करती है। श्री मोक्षशास्त्र में ''सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग:'' ह्न ऐसी व्याख्या की है, वह (निश्चयमोक्षमार्ग की) पर्याय की मुख्यता से की है। यह 'पर्यायप्रधान व्यवहारनय' से प्रज्ञापन है। (यहाँ 'व्यवहारनय' कहा है, इसलिए वह शुभरागरूप व्यवहार मोक्षमार्ग है, ऐसा नहीं समझना चाहिए।) निश्चय मोक्षमार्ग का कथन प्रमाण से, द्रव्यार्थिकनय से (द्रव्यप्रधान निश्चयनय से) और पर्यायार्थिक नय से (पर्यायप्रधान व्यवहारनय से) ऐसे तीन प्रकार से होता है ह्न ऐसा श्री प्रवचनसार गाथा २४२ की टीका में कहा है।

इस प्रकार इस गाथा में और मोक्षशास्त्र में कथनपद्धति का अन्तर होने पर भी भाव में किसी भी प्रकार का अन्तर नहीं है।

३) निश्चयमोक्षमार्ग और व्यवहारमोक्षमार्ग एक ही साथ ह्न गाथा ४७ में कहा है कि ''कारण कि मुनि भी नियम से दोनों प्रकार के मोक्षकारणों को ध्यान से प्राप्त करते हैं, इसलिए उसमें प्रयत्नशील होकर तुम ध्यान का भलीभाँति अभ्यास करो।'' बृहद् द्रव्यसंग्रह की गाथा ४७ टीका पृष्ठ १८० कहा है कि ह्न ''इन दोनों प्रकार के मोक्षमार्ग को मुनि भी निर्विकार स्वसंवेदनरूप परम ध्यान द्वारा प्राप्त करते हैं।'' इसी प्रकार श्री प्रवचनसार गाथा २४० से २४२ के शीर्षक में तथा नियमसार गाथा ६० पृष्ठ ११७ पर ''सदैव निश्चय-व्यवहारात्मक सुन्दर चारित्र भार वहन करने वाले'' कहकर दोनों साथ ही होते हैं, ऐसा प्रतिपादन किया है।

४) व्यवहार मोक्षमार्ग की व्याख्या ह्न वीतराग सर्वज्ञप्रणीत छह द्रव्य, पाँच अस्तिकाय, सात तत्त्व, नव पदार्थों का सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान-व्रतानुष्ठान विकल्परूप व्यवहार मोक्षमार्ग है। वह विकल्परूप होने से 'सराग दशा' (सराग अंश) है। वह परद्रव्यवृत्ति है, इसलिए उसे सूक्ष्म परसमय कहा जाता है। उसका फल संसार है। (समयसार गाथा ११, भावार्थ, पृष्ठ २५) उसका स्वरूप तथा उसका फल निश्चयमोक्षमार्ग से प्रतिपक्ष[1] है। शुद्धोपयोग अर्थात् निश्चय मोक्षमार्ग से शुभ और अशुभ उपयोग दोनों विलक्षण[2] हैं, विरोधी हैं, फिर भी मुनि के एकसाथ रहने में कोई बाधा (विरोध) नहीं है। इस सराग अंश का अभाव दसवें गुणस्थान के अन्त में होता है। व्यवहार मोक्षमार्ग परद्रव्यप्रवृत्ति है। श्री पंचास्तिकाय गाथा १६० में जो व्याख्या की है, उसमें उसी प्रकार बताया है। इस शास्त्र की २९ वीं गाथा के अनुसार वह आस्रव है।

५) निश्चय मोक्षमार्ग की व्याख्या ह्न निज निरंजन शुद्धात्मतत्त्व के सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान-अनुचरण में (आचरण में) एकाग्र परिणतिरूप निश्चयमोक्षमार्ग है। (यह व्याख्या मोक्षशास्त्र के अनुसार है।) इस गाथा तथा ४० वीं गाथा के अनुसार निश्चय से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रमय निज आत्मा निश्चयमोक्षमार्ग है।

६) 'धातुपाषाण से अग्निवत् साधक व्यवहार मोक्षमार्ग' ह्न इस कथन का अर्थ ह्न दृष्टान्त सदा एकदेशी होता है, सर्वांश लागू नहीं होता। सुवर्ण को पकाने में उपादानकारण तो सुवर्ण स्वयं और उसकी योग्यता है, किन्तु निमित्त अग्नि ही होती है। किसी अन्य में उचित निमित्तपने की योग्यता नहीं है। उसी प्रकार निश्चय मोक्षमार्ग के लिए उपादानकारण तो अपना आत्मा और उसकी योग्यता है, परन्तु निमित्त में व्यवहारमोक्षमार्ग ही होता है, अन्य

१. प्रवचनसार गाथा ७२, पृष्ठ ९२, श्री जयसेनाचार्य। (रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला)।

२. प्रवचनसार गाथा ९१, अमृतचंद्राचार्य की संस्कृत टीका।

https://AtmaDharma.com & https://AtmaDharma.org

किसी भाव में निमित्तपने की योग्यता नहीं है। दृष्टान्त में दो भिन्न पुद्‌गल पदार्थ हैं। (सिद्धान्त) साधक को चारित्रगुण की एक पर्याय में दो अंश ह्न एक वीतरागी अंश और दूसरा सरागी अंश है। अग्नि जिस प्रकार निमित्तरूप से व्यवहारनय से साधक है, उसी प्रकार व्यवहारमोक्षमार्ग निमित्तरूप से–व्यवहारनय से साधक है अर्थात् उपचार से साधक है। वास्तव में साधक होता तो वह 'व्यवहार' ऐसा नाम नहीं पाता।

७) इस शास्त्र की ४५ वीं गाथा जो व्यवहारचारित्र सम्बन्धी है, तथा ४९ वीं गाथा जिसमें मन्त्रजाप तथा पंचपरमेष्ठी का ध्यान करना बतलाया है, वह व्यवहारमोक्षमार्ग को प्ररूपित करती है।

८) साधक व्यवहारनय से ह्न इस अधिकार में तथा अन्य स्थानों पर व्यवहार को निश्चय का साधक कहा है। वहाँ प्रत्येक स्थान पर वह व्यवहारनय से साधक होने के कारण उसका अर्थ निमित्तमात्र है ह्न ऐसा समझना चाहिए। तथा प्रथम व्यवहार और फिर निश्चय ऐसा कुछ लोग मानते हैं, वह यथार्थ नहीं है, क्योंकि निश्चयरूप साध्य हो, तब उस काल के या पूर्वकाल के रागांश को 'व्यवहार' (उपचार) कारण कहा जाता है। यदि निश्चयरूप साध्य (कार्य) न हो तो साधक किसका ? कार्य हुए बिना किसी भी वस्तु या पर्याय को निमित्तकारण नहीं कहा जा सकता। कार्य के बिना कारण किसका कहा जाय ? इसलिए कार्य होने से पूर्व उस समय का रागांश या पूर्व रागांश व्यवहार मोक्षमार्ग (व्यवहार) साधक नाम नहीं पाता है।

९) निश्चय साधक पुरुष ही (आत्मा ही) अभेदनय से शुद्धनय का विषय होने से शुद्धात्म का साधक होने से, शुद्ध अभिप्रायरूप परिणत होने से शुद्ध है ह्न ऐसा जानना चाहिए। (देखो, समयसार गाथा १४, श्री जयसेनाचार्य की टीका, अन्तिम भाग, नई आवृत्ति दिल्ली, पृष्ठ ३८, पुरानी आवृत्ति रायचन्द्र शास्त्रमाला पृष्ठ ४१)।।३९।।

निश्चय मोक्षमार्ग का विशेष कथन

रयणत्तयं ण वट्टइ अप्पाणं मुयत्तु अण्णदवियम्हि।
तह्मा तत्तियमइओ होदि हु मोक्खस्स कारणं आदा।।४०।।

आतमा से भिन्न द्रव्यों में रहें न रतनत्रय।
बस इसलिए ही रतनत्रयमय आतमा ही मुक्तिमग।।४०।।

अन्वयार्थ ह्न (अप्पाणं) आत्मा को **(मुयत्तु)** छोड़कर **(अण्णदवियम्हि)** अन्य द्रव्य में **(रयणत्तयं)** रत्नत्रय **(न वर्त्तते)** नहीं रहता **(तह्मा)** इस कारण **(तत्तियमइओ)** वह तीनों रत्नों की एकतावाला **(आदा)** आत्मा **(हु)** वास्तव में **(मोक्खस्स)** मोक्ष का कारण **(होदि)** है।

भावार्थ ह्न १) निश्चयरत्नत्रय का स्थान ह्न १. निज शुद्धात्मा के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं भी अन्य द्रव्य में निश्चयरत्नत्रय नहीं होते, नहीं वर्तते। ''मुक्ति की प्राप्ति के लिए जगत में अन्य कोई पदार्थ नहीं है, नहीं है।'' (नियमसार, कलश १३५, पृष्ठ १९४)। किसी भी परपदार्थ के आश्रय से रत्नत्रय प्रगट नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें वे नहीं होते। जीवों के अनादिकाल से पराश्रयबुद्धि वर्तती है। अनुकूल पदार्थों का संयोग हो तो स्वयं सुखी और प्रतिकूल पदार्थों का संयोग हो तो दु:खी ह्न ऐसी मिथ्या मान्यता कर रहा है। परपदार्थ इष्ट–अनिष्ट कभी हैं ही नहीं ऐसा वह नहीं मानता, इसलिए पर–पदार्थों की ओर का आश्रय छुड़ाकर त्रैकालिक शुद्ध उपादान निज शुद्धात्मा का आश्रय यहाँ कराया है।

२. व्यवहार रत्नत्रय है सो परद्रव्य प्रवृत्ति है, उसके आश्रय का फल संसार है, इसलिए परद्रव्य के ओर की प्रवृत्ति छोड़कर (स्वद्रव्य के आश्रयरूप) स्वद्रव्यप्रवृत्ति किए बिना कभी निश्चयरत्नत्रय प्रगट नहीं होता।

३. अपना आत्मा ही अपना आलम्बन साधन[1] है और यह पर[2] से निरपेक्ष–

१. नियमसार, गाथा ९९
२. प्रवचनसार, गाथा १९२

https://AtmaDharma.com & https://AtmaDharma.org

निरालम्ब है, ऐसा वस्तु का स्वरूप है।

४. और इसीलिए निज परमात्मतत्त्व[1] के सम्यक्-श्रद्धान-ज्ञान-अनुष्ठानरूप शुद्ध रत्नत्रयमार्ग परम निरपेक्ष होने से मोक्ष का सच्चा उपाय है और उस शुद्ध रत्नत्रय का फल स्वात्मोपलब्धि (मोक्ष की प्राप्ति) है।

२) वह त्रिकमय निज आत्मा ह्न यह कथन द्रव्यार्थिकनय का है ह्न यह गाथा ३९ में बताया है। श्री समयसार की गाथा २७७ के अनुसार यह गाथा है। निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता सो 'रत्नत्रय' है ह्न ऐसा मूल गाथा में ही कहा है। इससे यह समझना चाहिए कि शुद्ध आत्मा दर्शन है, क्योंकि वह दर्शन का आश्रय है, शुद्ध आत्मा ज्ञान है, क्योंकि वह ज्ञान का आश्रय है, शुद्ध आत्मा चारित्र है, क्योंकि वह चारित्र का आश्रय है। उसमें व्यवहारनय प्रतिषेध्य-निषेध्य है ह्न ऐसा समझना चाहिए।

३) समस्त व्यवहार छोड़ने योग्य है ह्न श्री योगीन्द्रदेवकृत 'योगसार' की गाथा ३७, ५५ तथा ८९ में ऐसा कहा है कि सभी व्यवहार छोड़ने योग्य हैं, उन्हें छोड़े बिना रागांश का अभाव कैसे हो सकता है ? व्यवहार रत्नत्रय है अवश्य, यदि वह होवें ही नहीं तो छोड़े किसे ? यदि वह यथार्थ धर्म हों तो छोड़ने योग्य नहीं हो सकते, इसलिए उन्हें मात्र व्यवहारनय से 'साधक[2]' कहा है; किन्तु इससे यह मानना भ्रम है कि उनमें अंशमात्र भी धर्म है।

४) मोक्ष का कारण ह्न यह रत्नत्रयरूप परिणमित अपना आत्मा ही मोक्ष का वास्तविक निश्चय कारण (साधन) है ह्न ऐसा बतलाकर यह स्पष्ट बताया है कि व्यवहाररत्नत्रय मोक्ष का वास्तविक कारण नहीं है। मोक्षमार्ग के तीनों अवयवों की व्याख्या इसके बाद की गाथा ४१, ४२ और ४६ में दी है।।४०।।

१. नियमसार गाथा २ टीका, पृष्ठ ७। वह (शुद्ध रत्नत्रयमार्ग) व्यवहार रत्नत्रय से परम निरपेक्ष है ह्न ऐसा उसका अर्थ है। (व्यवहार का फल संसार है। देखो समसयार गाथा ११ का भावार्थ।)

२. यहाँ साधक अर्थात् निमित्त ह्न ऐसा अर्थ समझना चाहिए।

सम्यग्दर्शन का लक्षण

जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं रूवमप्पणो तं तु।
दुरभिणिवेसविमुक्कं णाणं सम्मं खु होदि सदि जम्हि ।।४१।।

जीवादि का श्रद्धान समकित जो कि आत्मस्वरूप है।
और दुरभिनिवेश विरहित ज्ञान सम्यग्ज्ञान है।।४१।।

अन्वयार्थ ह्न (जीवादीसद्दहणं) जीवादि तत्त्वों का श्रद्धान करना **(सम्मत्तं)** सम्यग्दर्शन है **(तु)** और **(तं)** वह **(अप्पणो)** आत्मा का **(रूवं)** स्वरूप है **(जम्हि सदि)** जिस सम्यग्दर्शन के होने पर **(खु)** यथार्थ में **(णाणं)** ज्ञान **(दुरभिणिवेसविमुक्कं)** विपरीत[1] अभिप्राय से रहित **(सम्मं)** सम्यक् **(होदि)** होता है।

भावार्थ ह्न १) निश्चय सम्यग्दर्शन ह्न यह गाथा निश्चय सम्यग्दर्शन की है। आत्मा में 'श्रद्धा' नामक एक गुण है, उसकी अनादि से विपरीत पर्याय है, जिसे मिथ्यादर्शन कहा जाता है। चतुर्थ गुणस्थान में उस पर्याय का अभाव होकर सम्यग्दर्शनरूप पर्याय होती है। वह सम्यग्दर्शन आत्मा का स्वरूप है। उस श्रद्धागुण की तीन प्रकार की पर्यायें होती हैं ह्न

१. मिथ्यादर्शन ह्न जो जीवों के अनादिकाल से है। (और जो जीव सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के बाद पुन: मिथ्यादर्शनरूप परणमित हों, उनके होता है, वे सादि मिथ्यादृष्टि कहलाते हैं) यह पर्याय उल्टी-विपरीत है।

२. सम्यग्दर्शन ह्न श्रद्धा गुण की शुद्ध पर्याय है, उसे इस गाथा में 'आत्मान: रूपं' अर्थात् आत्मा का स्वरूप कहा है। श्री पुरुषार्थसिद्ध्युपाय गाथा २२ में 'आत्मरूपं तत्' अर्थात् वह आत्मस्वरूप है ह्न ऐसा कहा है। (यह शास्त्र श्रावकाचार है।) यह पर्याय चतुर्थ गुणस्थान में प्रथम उपशम सम्यक्त्व के होते ही प्रगट होती है। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय की वह गाथा निम्नानुसार है ह्न

१. संशम, विपर्यय और अनध्यवसायरूप ज्ञान को दुरभिनिवेश (विपरीत अभिप्राय) कहा जाता है।

https://AtmaDharma.com & https://AtmaDharma.org

जीवाजीवादीनां तत्त्वार्थानां सदैव कर्तव्यम्।
श्रद्धानं विपरीताभिनिवेश–विविक्तात्मरूपं तत्।।

(इस गाथा का अर्थ श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ४७१ में निम्नोक्तानुसार किया है ह्न)

''विपरीत अभिनिवेश रहित जीवाजीवादि तत्त्वार्थों का श्रद्धान सदाकाल करने योग्य है। यह श्रद्धान आत्मा का ही स्वरूप है, क्योंकि वह दर्शनमोहरूप उपाधि के दूर होने पर प्रगट होता है, इसलिए वह आत्मा का स्वरूप है। वह चतुर्थादि गुणस्थानों में प्रगट होता है और फिर सिद्धदशा में भी सदाकाल उसका सद्भाव रहता है।''

३. मिश्र अवस्था ह्न जो कुछ सम्यक् तथा कुछ मिथ्यात्वरूप होती है। यह अवस्था सादि मिथ्यादृष्टि के होती है और वह सम्यक्त्व से पतन होने पर होती है तथा वह अत्यन्त अल्पकाल रहती है। (इसलिए इस पर्याय के सम्बन्ध में विशेष कथन की आवश्यकता नहीं है, यह तीसरे गुणस्थान में होती है।)

२) चौथे गुणस्थान में प्रगट होने वाला निश्चय सम्यग्दर्शन एक ही प्रकार का है ह्न सम्यग्दर्शन तो कहीं दो[१] नहीं हैं, किन्तु सम्यग्दर्शन का निरूपण दो प्रकार से है। जहाँ यथार्थ सम्यग्दर्शन को सम्यग्दर्शन निरूपित किया है, वह निश्चय सम्यग्दर्शन है तथा जो सम्यग्दर्शन तो नहीं है, किन्तु सम्यग्दर्शन का निमित्त है अथवा सहचारी है, उसे उपचार से सम्यग्दर्शन कहा है, वह व्यवहार सम्यग्दर्शन है, क्योंकि निश्चय–व्यवहार का सर्वत्र[२] ऐसा ही लक्षण है। अर्थात् यथार्थ निरूपण सो निश्चय और उपचार निरूपण सो व्यवहार है। इसलिए निरूपण की अपेक्षा से सम्यग्दर्शन दो प्रकार का जानना चाहिए। किन्तु एक निश्चय सम्यग्दर्शन है और एक व्यवहार सम्यग्दर्शन है ह्न इसप्रकार दो सम्यग्दर्शन मानना मिथ्या है।

१. मोक्षमार्गप्रकाशक (जयपुर से प्रकाशित), पृष्ठ २४८, 'मोक्षमार्ग' के स्थान पर सम्यग्दर्शन शब्द ऊपर लिया है।

२. चारों अनुयोगों के सभी शास्त्रों में।

३) निश्चय–व्यवहार सम्यग्दर्शन की व्याख्या तथा उसका एक ही काल में होना ह्न १. सच्चे देव–गुरु–धर्म के दृढ़ प्रतीति, २. जीवादि सात तत्त्वों की यथार्थ प्रतीति, ३. स्व–पर का श्रद्धान, ४. आत्मश्रद्धान अर्थात् श्रद्धागुण की निर्मल दशा प्रगट होने से अपने शुद्धात्मा की अखण्ड ज्ञायकस्वभाव की प्रतीति को सम्यग्दर्शन कहते हैं। इन लक्षणों के अविनाभाव सहित जो श्रद्धा होती है, वह निश्चय सम्यग्दर्शन है। यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि निश्चय–व्यवहार सम्यग्दर्शन एक ही काल में उत्पन्न होते हैं। विपरीताभिनिवेश रहित आत्मपरिणाम निश्चय सम्यक्त्व है। क्योंकि यह सत्यार्थ सम्यक्त्व का स्वरूप है। और सत्यार्थ का नाम ही निश्चय है, और विपरीताभिनिवेश रहित श्रद्धान का (निमित्त) कारणभूत श्रद्धान व्यवहार सम्यक्त्व है। क्योंकि यहाँ कारण में कार्य का उपचार किया है और उपचार का नाम ही व्यवहार है। वहाँ जीव को देव–गुरु–धर्मादि की सच्ची श्रद्धा है और उसी के निमित्त से उसके श्रद्धान में विपरीताभिनिवेश का अभाव होता है। इसलिए यहाँ विपरीताभिनिवेश रहित श्रद्धान तो निश्चय सम्यक्त्व है और देव–गुरु–धर्मादि का श्रद्धान व्यवहार सम्यक्त्व है। इस प्रकार एक ही काल में उसके दोनों सम्यक्त्व होते हैं।

४) उपरोक्त निश्चय सम्यग्दर्शन की व्याख्या का स्पष्टीकरण ह्न १. जिस जीव को सच्चे देव–गुरु–धर्म की प्रतीति होती है, उसे सात तत्त्व की, स्व–पर की तथा आत्मा की श्रद्धा अवश्य होती है, क्योंकि सच्चे देव–गुरु–धर्म की श्रद्धा का प्रयोजन सात तत्त्वों की श्रद्धा है और सात तत्त्वों की श्रद्धा का प्रयोजन ऐसी श्रद्धा करना है कि जीव, संवर, निर्जरा और मोक्ष तो स्व हैं तथा अजीव, आस्रव और बंध पर हैं। और स्व–पर की श्रद्धा का प्रयोजन अपनी पर्याय को अपने जीव–सामान्य के सन्मुख करना है; क्योंकि उसके आश्रय से संवर, निर्जरा और मोक्ष पर्याय प्रगट होती है।

२. यदि इन चार में से किसी एक, दो या तीन की श्रद्धा हो, शेष की न हो तो यह समझना चाहिए कि उसे एक की भी सच्ची श्रद्धा नहीं है।

https://AtmaDharma.com & https://AtmaDharma.org

३. देव, गुरु और धर्म अथवा आप्त, आगम और गुरु की श्रद्धा ह्न इन दोनों कथन में कोई अन्तर नहीं है, दोनों एक ही हैं।

निश्चय सम्यग्दर्शन चौथे गुणस्थान से सिद्धावस्था तक सभी सम्यग्दृष्टियों के होता ही है।

श्री रत्नकरण्ड श्रावकाचार के श्लोक ३०, ३३, ३४, ३५ और ३६ अति महत्त्वपूर्ण हैं। इसके श्लोकांश ३० में कहा है कि ह्न ''शुद्धदृष्टि (निश्चय सम्यग्दृष्टि) जीव भय, आशा, स्नेह अथवा लोभ से कुदेवादि को न तो प्रणाम करता है और न उनकी विनय करता है।'' श्लोकांश ३३ में कहा है कि ह्न ''निर्मोही (सम्यग्दृष्टि) गृहस्थ मोक्षमार्ग में स्थित है, किन्तु मोही (मिथ्यादृष्टि) मुनि मोक्षमार्ग में स्थित नहीं है। इसलिए मिथ्यादृष्टि मुनि से सम्यग्दृष्टि गृहस्थ श्रेष्ठ है।'' (मोक्षमार्ग अर्थात् निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता)। श्लोकांश ३५ में कहा है कि ह्न ''सम्यग्दर्शन से शुद्ध अव्रती हो तो भी वह नरक, तिर्यंच, नपुंसक, स्त्री, नीच कुल, विकलांग या निर्धनता में जन्म नहीं लेता।'' यहाँ चतुर्थ गुणस्थानवाला जीव शुद्ध (निश्चय) सम्यग्दर्शनधारी होता है। यह स्पष्ट किया है। श्लोकांश ३६ में यह बतलाया है कि ह्न सम्यग्दर्शन से पवित्र जीव कैसे कुल में जन्म लेते हैं तथा कैसे शरीर की प्राप्ति करते हैं। इससे भी यही सिद्ध होता है कि चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीव के पवित्र (निश्चय) सम्यग्दर्शन होता है।

इस श्लोक ३५-३६ का आधार बृहद् द्रव्यसंग्रह की गाथा ४१ की टीका पृष्ठ १६१ में लिया है। रत्नकरण्ड श्रावकाचार के श्लोकांश ३४ में कहा हैह्न ''तीन काल और तीन लोक में शरीरधारियों को सम्यक्त्व के समान कुछ भी कल्याण-श्रेय नहीं है। और मिथ्यात्व के समान कुछ भी अकल्याण-अश्रेय नहीं है।

मिथ्यात्व, सम्यग्दर्शन के होने पर चौथे गुणस्थान में ही जाता है। कल्याणकारी सम्यग्दर्शन तो निश्चय सम्यग्दर्शन है, क्योंकि वह श्रद्धागुण की शुद्ध पर्याय है। व्यवहार सम्यक्त्व श्रद्धागुण की पर्याय ही नहीं है, वह तो

चारित्रगुण की विकारी पर्याय अर्थात् शुभोपयोग है ह्न ऐसा श्री प्रवचनसार की १५७ वीं गाथा में श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने स्वयं कहा है; इसलिए चतुर्थ गुणस्थान से ही निश्चय सम्यग्दर्शन होता है, ऐसा निर्णय करना चाहिए।

२) पुरुषार्थसिद्धि उपाय ह्न (जो श्रावकाचार का शास्त्र है) गाथा २२ में कहा है कि ह्न विपरीत अभिनिवेश से रहित जीव-अजीवादि तत्त्वार्थों का श्रद्धान सदाकाल कर्तव्य है। वह श्रद्धान आत्मा का स्वरूप है। चतुर्थ गुणस्थान से निश्चय सम्यक्त्व होता है ह्न ऐसा उसका अर्थ है, क्योंकि यहाँ उसे आत्मा का स्वरूप और सदा कर्तव्य कहा है। व्यवहार सम्यक्त्व तो राग है, वह निचले गुणस्थान में खेद है कि आये बिना नहीं रहता, किन्तु सम्यग्दृष्टि उस राग का मात्र ज्ञाता है, कर्ता नहीं है अर्थात् उसे अपना कर्तव्य नहीं मानता। यह सम्यक्त्व चौथे गुणस्थान में प्रारम्भ होता है और सिद्ध दशा में भी सदाकाल उसका सद्भाव रहता है ह्न ऐसा मोक्षमार्गप्रकाशक पृष्ठ ४७१ में कहा है। यह व्याख्या सात तत्त्वों की मुख्यता से है, वहाँ शेष तीन (निज आत्मा का, स्व-पर का तथा सुदेवादि का श्रद्धान) अविनाभाव रूप से होते हैं। सिद्ध भगवान को व्यवहार सम्यक्त्व नहीं होता।

५) शास्त्रों में सम्यग्दर्शन सम्बन्धी कथनपद्धति ह्न शास्त्रों में अनेक स्थानों पर सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् चारित्र की सविकल्प दशा अथवा निर्विकल्प दशा को मिलाकर सम्यग्दर्शन का वर्णन किया जाता है। उस प्रसंग में निम्नोक्तानुसार कथन होता है ह्न

१. दसवें गुणस्थान के अन्तिम समय में सम्पूर्ण राग का अभाव होता है और उसके पूर्व भूमिकानुसार राग रहता है, इसलिए ''चौथे गुणस्थान से दसवें गुणस्थान तक के जीव सरागी सम्यग्दृष्टि कहलाते हैं और उसके बाद के ऊपर के वीतरागी कहलाते हैं।[१]''

२. सातवें गुणस्थान से दसवें गुणस्थान तक अबुद्धिपूर्वक राग रहता है,

१. पण्डित हीरालालाजी कृत द्रव्यसंग्रह टीका, गाथा २६, पृष्ठ १२१

https://AtmaDharma.com & https://AtmaDharma.org

उसे गौण करके ''...... अप्रमत्तादि[1] गुणस्थानवर्ती वीतराग चारित्र अविनाभूत वीतराग सम्यक्त्व'' और चौथे-पाँचवें तथा छठवें गुणस्थान में सराग सम्यक्त्व कहा है।

३. वीतरागी भावलिंगी मुनि सातवें और छट्ठे गुणस्थान में बारम्बार आते हैं, उसकी मुख्यता को लेकर श्री जयसेनाचार्य ने श्री समयसार की टीका में कहा है कि ह्न ''पंचम गुणस्थान से ऊपर के गुणस्थानवर्ती वीतराग सम्यग्दृष्टियों का मुख्यता से और सराग सम्यग्दृष्टियों का गौण रूप से ग्रहण है ह्न इस प्रकार वर्णन 'सम्यग्दृष्टि' की व्याख्या के समय सर्वत्र तात्पर्यरूप से जानना चाहिए।[2]

(सराग सम्यग्दृष्टि को वीतराग सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा से व्यवहार सम्यग्दृष्टि कहा जाता है और वीतराग सम्यग्दृष्टि को सराग सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा से निश्चय सम्यग्दृष्टि भी कहा जाता है। ''जिन जीवों को व्यवहार सम्यग्दृष्टि कहा है, वे उपचार से सम्यग्दृष्टि हैं ह्न ऐसा नहीं समझना चाहिए, परन्तु वे वास्तव में सम्यग्दृष्टि हैं ह्न ऐसा समझना चाहिए। चारित्र की अपेक्षा से रागादि का अस्तित्व होने से सराग सम्यक्त्ववान कहकर व्यवहार सम्यग्दृष्टि कहा है। श्री जयसेनाचार्य देव ने स्वयं ही (पंचास्तिकाय की १५०-१५१ वीं गाथा की टीका में) कहा है कि जब यह जीव आगम भाषा में कालादि लब्धिरूप और अध्यात्मभाषा में शुद्धात्माभिमुख परिणामरूप स्वसंवेदन को प्राप्त करता है, तब प्रथम तो वह मिथ्यात्वादि सात प्रकृतियों के उपशम और क्षयोपशम द्वारा सराग सम्यग्दृष्टि[3] होता है।'' इस प्रकार सराग सम्यग्दृष्टि भी यथार्थ (सच्चे-निश्चय) सम्यग्दृष्टि हैं।)

१. श्री समयसार गाथा १७७-१७८ की जयसेनाचार्य की टीका, पृष्ठ २५२-२५३ प्रथमावृत्ति। ऐसा कथन द्रव्यसंग्रह गाथा २२ तथा परमात्मप्रकाश की टीका में आया है, किन्तु वहाँ गुणस्थान नहीं बताए हैं।

२. श्री समयसार गाथा २०१-२०२, श्री जयसेनाचार्य की टीका, पृष्ठ २८७, प्रथमावृत्ति।

३. श्री पंचास्तिकाय गाथा १७२ की टीका, पृष्ठ ११६-११७, फुटनोट तथा पंचास्तिकाय श्री जयसेन की टीका

बृहद् द्रव्यसंग्रह गाथा ३५ की टीका पृष्ठ १३७-१३८ में सम्यग्दृष्टि को 'वीतराग' ऐसा विशेषण किसलिए लगाया है ?

ऐसा प्रश्न किया है। उसके समाधान में कहा है कि भेदविज्ञान उत्पन्न होने पर भी जितने अंश में रागादि का अनुभव करता है, उतने अंश में भेदविज्ञानी पुरुष भी बंधता है। (यहाँ किसी गुणस्थान की बात नहीं कही है।)

४. श्रद्धागुण की एक ही अपेक्षा से चतुर्थ गुणस्थान में प्रगट होनेवाला सम्यग्दर्शन यथार्थ है, इसलिए वह निश्चय सम्यग्दर्शन है और सातवें गुणस्थान में प्रगट होनेवाला वीतराग अथवा निश्चय सम्यग्दर्शन श्रद्धा और चारित्र इन दो गुणों को एकत्रित करके कहा गया है। इस सम्बन्ध में श्री 'परमात्मप्रकाश' अध्याय २, गाथा १७, पृष्ठ १४६-१४७ में कहा है कि ह्न ''इन महापुरुषों को शुद्धात्मा उपादेय है, ऐसी भावनारूप निश्चय सम्यक्त्व तो है, किन्तु चारित्रमोह के उदय से स्थिरता नहीं है।'' आगे चलकर इसी टीका में कहा है कि ह्न ''शुभराग के योग से वे सराग सम्यग्दृष्टि हैं।''

५. श्री 'पंचाध्यायी' (भाग २) में कहा है कि ह्न सम्यग्दर्शन में सविकल्प (सराग-व्यवहार) और निर्विकल्प (वीतराग-निश्चय) ऐसे भेद यथार्थतः नहीं हैं। उसकी गाथा ८२१-८२२ में कहा है कि शास्त्र और लोक में ऐसी रूढ़ि है कि सम्यक्त्व निश्चय और व्यवहार ऐसे दो प्रकार का है। व्यवहार सम्यक्त्व सराग अर्थात् सविकल्प है और निश्चय सम्यक्त्व वीतराग अर्थात् निर्विकल्प है। इसके समाधान में प्रथम ऐसा बताया है कि यथार्थ में ऐसा माननेवाले अपनी प्रज्ञा के अपराध से मिथ्या आशय वाले हैं। उनका जो भी श्रुत-अभ्यास है, वह मात्र कायक्लेश के लिए है। (गाथा ८२७) शास्त्रों में यह कथन किस प्रकार आता है, इसका स्पष्टीकरण (आगे चलकर) अनेक गाथाओं में दिया है, उनमें से दो गाथाएँ अत्यावश्यक होने से यहाँ दी जा रही हैं। 'पंचाध्यायी' भाग २, गाथा ९०२ निम्नानुसार है ह्न

यत्पुनः कैश्चिदुक्तं स्यात्स्थूलं लक्ष्योन्मुखैरिह।
अत्रोपचारहेतुर्यस्तं ब्रुते किल साम्प्रतम्॥९०६॥

https://AtmaDharma.com & https://AtmaDharma.org

अर्थ ह्न किन्हीं पुरुषों ने स्थूल उपचार दृष्टि से जो दर्शन–ज्ञान को सविकल्प कहा है, उसमें जो उपचार कारण है, उसे मैं अब स्पष्ट रूप से कहता हूँ।

६. तत्पश्चात् उपचार कारण की चर्चा करके गाथा ९०९–९१० में कहा है कि ह्न

विमृश्यैतत्परं कैश्चिदसद्भूतोपचारतः।
रागवज्ज्ञानमत्रास्ति सम्यक्त्वं तद्वदीरितम्।।९०९।।
हेतोः परं प्रसिद्धैर्यः स्थूललक्ष्यैरिति स्मृतम्।
आप्रमत्तं च सम्यक्त्वं ज्ञानं वा सविकल्पम्।।९१०।।

अर्थ ह्न केवल इस बात का विचार करके किन्हीं पुरुषों ने उपचरित असद्भूत व्यवहारनय से उन गुणस्थानों में राग सहित ज्ञान को देखकर सम्यक्त्व को भी वैसा (सराग) कहा है।।९०९।।

केवल इस हेतु से बुद्धिपूर्वक राग के हेतु से (प्रसिद्ध रीति से स्थूल उपचार दृष्टि से उनकी ओर से ऐसा कहा है कि प्रमत्त गुणस्थान तक (चौथे, पाँचवें–छट्ठे गुणस्थान तक) सम्यक्त्व और ज्ञान सविकल्प (सराग) हैं।।९१०।।

७. उपरोक्त शास्त्रों में तथा अन्य शास्त्रों में जहाँ श्रद्धा और चारित्र गुण की पर्यायों का भिन्न–भिन्न वर्णन किया है, वहाँ ऐसा वर्णन है कि चौथे गुणस्थान से ही जीव के (१) शुद्ध[१] जिनज्ञानदृष्टि, (२) सम्यक्त्वाचरण चारित्र, (३) जिन[१] सम्यक्त्व गुण विशुद्ध और (४) सम्यक्त्वाचरण शुद्ध होता है। (५) जो जीव विशुद्ध सम्यक्त्व (श्रद्धा) करता है, वह चारित्र के दोष का परिहार करता है। (६) सम्यक्त्व का अनुसरण करने वाला दुःख का क्षय करता है।

८. १) श्रावकत्व तथा मुनित्व[२] के कारणभूत निश्चय सम्यग्दर्शनादि होते हैं।

२) अविरत देशविरत[३] आदि में गुण का एकदेश होता है।

३) शुद्धात्म भावना से उत्पन्न अतीन्द्रिय सुख उपादेय है, ऐसी प्रतीति

१. चारित्र पाहुड़ गाथा ५–८–९–१३–१४–१७–१९
२. भावपाहुड़ गाथा ६६, अर्थ तथा भावार्थ।
३. भावपाहुड गाथा १२० भावार्थ।

करना (प्रतिभाति) सो भावसम्यग्दृष्टि[१] है। वह निश्चय सम्यक्त्व[२] है।

४) श्रद्धान सदाकाल कर्तव्य है। यह आत्मा[३] का ही स्वरूप है। वह दर्शनमोहरूप उपाधि के दूर होने पर प्रगट होता है, इसलिए वह आत्मा का स्वभाव है। वह चतुर्थादि गुणस्थान में प्रगट होता है, पश्चात् सिद्धावस्था में भी उसका सदाकाल सद्भाव रहता है।

५) तिर्यंचादि और केवली व सिद्ध भगवान के सम्यक्त्व गुण समान कहा है।

६) विपरीत अभिनिवेश रहित आत्मपरिणाम निश्चय सम्यक्त्व है, क्योंकि यह सत्यार्थ सम्यक्त्व का स्वरूप है।

७) सम्यग्दर्शन[४] शुद्ध–निर्मल होता है।

८) जिन्हें भेदज्ञान प्रगट हुआ है, जिनका चित्त चन्दन[५] जैसा शीतल हुआ है, जो शिवमार्ग में केलि करते हैं, जो जिनेश्वर के लघु नन्दन हैं, जिनके सत्य स्वरूप सदा प्रगट हुआ है, जिनकी शांत दशा है और जिन्हें गणधर जैसा विवेक प्रगट हुआ है, वे सम्यग्दृष्टि हैं।

९) सम्यक्त्व होते समय निर्विकल्प[६] दशा होती है और उसके पश्चात् भी किसी–किसी समय निर्विकल्प दशा होती है।

१. पंचास्तिकाय गाथा १५४, उत्थानिका पृष्ठ २२३, जयसेनाचार्य। (रायचंद्र शास्त्रमाला)
२. परमात्मप्रकाश अध्याय १ गाथा ९३, सं. गाथा ९४, अ. २ गाथा १५, सं. (तत्पश्चात् अ. २ गाथा १७, दो प्रकार से व्याख्यान)।
मोक्षमार्ग प्रकाशक (जयपुर से प्रकाशित) अध्याय ९
बनारसीदास कृत समयसार नाटक गुणस्थान अधिकार। श्लोक ५१, पहला चरण, दूसरी पंक्ति।
३. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय गाथा २२
४. रत्नकरंड श्रावकाचार गाथा ३५–३६
५. बनारसीदास कृत समयसार नाटक, मंगलाचरण काव्य ६–७–८
६. अनुभवप्रकाश, प्रवचनसार गाथा ८० जयसेनाचार्य टीका, पण्डित टोडरमलजी की रहस्यपूर्ण चिट्ठी।

https://AtmaDharma.com & https://AtmaDharma.org

१०) जो अन्तरात्मपना प्रगट होता है, वह मिथ्यात्व, रागादि रहित होने से शुद्ध है, उसमें जितने अंश में शुद्धि है, उतने अंश में मोक्ष का कारण होता है।

११) श्रावक को भेदाभेदरत्नत्रय तथा शुद्धोपयोग-शुद्धात्म भावना होती है।

१२) सम्यग्दृष्टि जीव अन्तर्दृष्टि द्वारा मोक्षपद्धति को साधता-जानता है, वह बाह्यभाव को बाह्य निमित्तरूप मानता है। वे निमित्त नाना प्रकार के हैं, एकरूप नहीं हैं, इसलिए वह अन्तर्दृष्टि के प्रमाण में मोक्षमार्ग को साधता है।

इत्यादि प्रकार से चौथे गुणस्थान से प्रगट होने वाले सम्यग्दर्शन की अद्‌भुत महिमा है। उसके प्रगट होने पर ज्ञान में से भी विपरीतता छूट जाने पर सम्यग्ज्ञान होता है। (देखो आगे की गाथा ४२, भावार्थ, पैरा नं. ४)

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का उपाय ह्न श्री समयसार गाथा ११ में बताए गए भूतार्थ नय के विषयभूत निज ज्ञायकभाव का आश्रय करना चाहिए। धर्म प्रगट करने के लिए आदि, मध्य और अन्त में यह एक ही उपाय है।।४१।।

सम्यग्ज्ञान का लक्षण

संशयविमोहविब्भमविवज्जियं अप्पपरसरूवस्स।
गहणं सम्मं णाणं सायारमणेयभेयं च।।४२।।

संशयविमोहविभरमविरहित स्वपर को जो जानता।
साकार सम्यग्ज्ञान है वह है अनेकप्रकार का।।४२।।

अन्वयार्थ ह्न (संशयविमोहविब्भमविवज्जियं) संशय, विमोह और विभ्रम से रहित **(सायारं)** आकार-विकल्पसहित **(अप्पपरसरूवस्स)** आत्मा और पर के स्वरूप का **(गहणं)** ग्रहण करना-जानना सो **(सम्मं णाणं)** सम्यग्ज्ञान है, **(च)** और वह **(अणेयभेयं)** अनेक प्रकार का है।

(* संशयादि दोष रहित और आकार सहित स्व-पर पदार्थों को जानना सो सम्यग्ज्ञान है।)

भावार्थ ह्न १) ज्ञान साकार है ह्न इसका अर्थ प्रथम तो जो अर्थविकल्प है सो ज्ञान है। यहाँ 'अर्थ' क्या है और 'विकल्प' क्या है ?

उत्तर : १. स्व-पर के विभागपूर्वक रहने वाला विश्व 'अर्थ' है। समस्त पदार्थों को, समस्त द्रव्य-गुण-पर्यायों को 'विश्व' ऐसे एक शब्द से कहा जाता है। इसलिए छहों द्रव्य, उनके गुण और पर्यायों के समूह को विश्व कहते हैं ह्न ऐसा समझना चाहिए। पदार्थों में स्व और पर ऐसे दो विभाग हैं। जो जानने वाली आत्मा का अपना हो सो 'स्व' है और अन्य सब पर हैं।

२. उसके आकारों का अर्थात् स्वरूपों का अवभासन 'विकल्प' है। (अवभासन अर्थात् अवभासित होना, प्रकाशित होना, जानना, प्रगट होना, एक पदार्थ से दूसरा पदार्थ जिस प्रकार भिन्न है, उसी प्रकार अपने ज्ञान में सुदृढ़तया भास होना।)

इस प्रकार स्व-पर पदार्थों का भिन्नतापूर्वक युगपद् अवभासन होना सो ज्ञान है। जैसे दर्पण के निज विस्तार में स्व और पर आकार एक ही साथ प्रकाशित होते हैं, वैसे ही जिस में युगपद् स्व-पर आकार (स्वरूप) अवभासित होते हैं, वह ज्ञान है।

२) युगपद् स्व-पर के स्वरूप का ज्ञान होने के सम्बन्ध में दृष्टान्त ह्न परमात्मा अनन्त ज्ञान-सुखादि रूप से मैं हूँ, तथा रागादि आस्रव मुझसे पृथक्

* **संशय: ह्न** ''विरुद्धानेककोटिस्पर्शिज्ञानं संशय:'' ह्न ऐसा है कि ऐसा है ह्न इसप्रकार जो परस्पर विरुद्धता पूर्वक दो प्रकाररूप ज्ञान है, सो संशय है। जैसे ह्न आत्मा अपने कार्य को कर सकता होगा कि जड़ के कार्य को कर सकता होगा ? ऐसा जानना सो संशय है।

विपर्यय: ह्न ''विपरीतैककोटिनिश्चयो विपर्यय:'' ह्न वस्तुस्वरूप से विरुद्धतापूर्वक 'ऐसा ही है' इस प्रकार जो एकरूप ज्ञान है, सो विपर्यय है। जैसे ह्न शरीर को आत्मा जानना सो विपर्यय है।

अनध्यवसाय: ह्न ''किमित्यालोचनमात्रमनध्यवसाय:'' ह्न 'कुछ है' ऐसे निर्धाररहित विचार का नाम अनध्यवसाय है। जैसे ह्न 'मैं कोई हूँ' ऐसा जानना सो अनध्यवसाय है।

https://AtmaDharma.com & https://AtmaDharma.org

अर्थात् भिन्न हैं ह्न इस प्रकार स्व-पराकार का अवभासन सो युगपद् स्व-पर का यथार्थ[१] ज्ञान है, क्योंकि आत्मा और आस्रव का भेद जहाँ तक जीव नहीं जानता है, वहाँ तक बन्ध हुए बिना नहीं रहता, और जब आत्मा तथा आस्रव का अन्तर (भेद) जान लेता है, तब उसके बन्ध का निरोध[२] होता है।

३) आकार-विकल्प के अर्थ ह्न १. आकार का अर्थ यहाँ लम्बा-चौड़ा या गोल, चौकोर नहीं होता; किन्तु ज्ञान साकार है अर्थात् ज्ञान ही भिन्न-भिन्न पदार्थों की तथा उसके स्वरूप की मर्यादा निश्चित करता है। २. विकल्प का अर्थ यहाँ राग ह्न (वि = विरुद्ध, कल्प = आचार) ऐसा नहीं करना चाहिए, किन्तु वि अर्थात् विशेष और कल्प अर्थात् जानना। इस प्रकार विकल्प का अर्थ यहाँ 'ज्ञान' समझना चाहिए।

४) सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का कारण-कार्यपना ह्न ज्ञान[३] में मिथ्या तथा सम्यक् ह्न ऐसी संज्ञा मिथ्यादर्शन और सम्यग्दर्शन के निमित्त से होती है। जिस प्रकार मिथ्यादृष्टि या सम्यग्दृष्टि सुवर्णादि पदार्थों को जानते तो समान रूप से हैं, परन्तु वही ज्ञातृत्व मिथ्यादृष्टि के मिथ्याज्ञान तथा सम्यग्दृष्टि के सम्यग्ज्ञान नाम धारण करता है। इसी प्रकार सर्व मिथ्याज्ञान-सम्यग्ज्ञान का (निमित्त) कारण मिथ्यादर्शन-सम्यग्दर्शन जानना चाहिए।

प्रश्न : ज्ञान-श्रद्धान तो युगपत् होते हैं, तब फिर उनमें कारण-कार्यपना कैसे कहते हो ?

उत्तर : ''यह हो तो यह होता है'' ह्न इस अपेक्षा से कारण-कार्यपना होता है। जिस प्रकार दीपक और प्रकाश दोनों युगपत् होते हैं, तथापि दीपक हो तो प्रकाश होता है, इसलिए दीपक कारण है और प्रकाश कार्य है ह्न ऐसा यहाँ जानना।

५) सम्यग्ज्ञान और राग ह्न सम्यग्ज्ञानोपयोग का विषय जब आत्मा हो

१. प्रवचनसार, गाथा १२४ जयसेनाचार्य की टीका।

२. समयसार, गाथा ३० से ७२ तथा ७४।

३. मोक्षमार्गप्रकाशक (जयपुर से प्रकाशित), अध्याय ४, पृष्ठ ८७

तब वह ज्ञान स्वसंवेदन ज्ञान कहा जाता है, इसलिए चारित्र की अपेक्षा से उस ज्ञान को वीतरागी ज्ञान अथवा निश्चयज्ञान और जब उस ज्ञान का विषय सम्यग्दृष्टि के परपदार्थ हों तब उस ज्ञान को व्यवहारज्ञान स्थूल दृष्टि से कहा जाता है; किन्तु इससे वह व्यवहारज्ञान उपचाररूप नहीं हो जाता, किन्तु वास्तव में वह (निश्चय) सम्यग्ज्ञान ही है। यह विषय पंचाध्यायी में कहा गया है। (देखो, गाथा ४१) जैसा भावार्थ पैरा ५ (१) से (७) में है, उस प्रकार यहाँ भी ऐसा समझना चाहिए कि दोनों गुणों को पृथक्-पृथक् न मानकर वह ज्ञान सचमुच सम्यक् ही है, उपचार नहीं है।

प्रश्न : चारित्र की अपेक्षा से कथन हो तब राग के साथ रहने वाले सम्यग्ज्ञान को व्यवहार ज्ञान कहकर उसे साधक तथा निर्विकल्प दशा के निश्चयज्ञान को साध्य[१] कहा जाता है। इसका अर्थ क्या है ?

उत्तर : सम्यग्दृष्टि अपने पुरुषार्थ में वृद्धि करके स्व-संवेदन ज्ञानरूप से परिणमित होता है, तब उपरोक्त व्यवहारज्ञान का अभाव होता है, तथापि उस समय वह सहचारी है ह्न ऐसा भूतनैगमनय से मानकर उसे निमित्त-बहिरंग साधक (उचित निमित्त) का ज्ञान कराने के लिए कहा जाता है। वास्तव में निश्चय साधक तो अपना स्वसन्मुख हुआ पुरुषार्थ है ह्न ऐसा समझना चाहिए।

६) सम्यग्ज्ञान के हेतु होने वाली प्रवृत्ति ह्न यदि जीव[२] को प्रथम सच्चा तत्त्वज्ञान हो तो वह पुण्य-पाप के फल को संसार जाने, शुद्धोपयोग से मोक्ष माने और गुणस्थानादि रूप जीव का व्यवहार निरूपण जाने। अब तत्त्वज्ञान का कारण तो अध्यात्मरूप द्रव्यानुयोग के शास्त्र हैं। वहाँ कोई जीव इन शास्त्रों का अभ्यास करता है, परन्तु जहाँ जैसा लिखा है, वैसा स्वयं निर्णय करके अपने को अपने रूप, पर को पररूप तथा पुण्य-पाप को आस्रवादिरूप श्रद्धा नहीं

१. बृहद् द्रव्यसंग्रह (जयपुर से प्रकाशित), गाथा ४२ की टीका, पृष्ठ २०९ पर यह बात इस अर्थ में कही है।

२. मोक्षमार्गप्रकाशक (जयपुर से प्रकाशित), अध्याय ७, पृष्ठ २३७

https://AtmaDharma.com & https://AtmaDharma.org

करता, इसलिए यथार्थ निर्णय करके ''मैं ज्ञानस्वरूप हूँ'' ह्न ऐसा स्वयं को परद्रव्य से भिन्न केवल चैतन्य द्रव्यमय अनुभव करना कार्यकारी है।

७) सम्यग्ज्ञान के भेद ह्न

यह भेद पाँच हैं ह्न १. मति, २. श्रुत, ३. अवधि, ४. मनःपर्यय और ५. केवलज्ञान। यह पाँच ज्ञानगुण की सम्यक् पर्यायें हैं। यह ज्ञान की हीनाधिकतारूप भेद (सामान्य) ज्ञानस्वभाव का भेदन नहीं करते, प्रत्युत उसका अभिनन्दन करते हैं, अभेदरूप घोषित करते हैं। इसलिए ऐसे एक अभेद आत्मस्वभाव का आलम्बन करना चाहिए, उसी से निजपद[१] की प्राप्ति होती है, भ्रान्ति का नाश होता है, आत्मा का लाभ होता है, अनात्मा का परिहार सिद्ध होता है, कर्म (भावकर्म और द्रव्यकर्म) जोरावर नहीं हो सकता, राग-द्वेष-मोह उत्पन्न नहीं होते, कर्म पुनः आस्रवित नहीं होता, पुनः बन्धता नहीं है, पूर्व में बन्धा हुआ कर्म झर जाता है, समस्त कर्मों का अभाव होने से साक्षात् मोक्ष होता है।

दर्शनोपयोग का लक्षण

जं सामण्णं गहणं भावाणं णेव कट्टुमायारं।
अविसेसिदूण अट्ठे दंसणमिदि भण्णए समये।।४३।।

अर्थग्राहक निर्विकल्पक और है अविशेष जो।
सामान्य अवलोकन करे जो उसे दर्शन जानना।।४३।।

अन्वयार्थ ह्न (अट्ठे) पदार्थों के **(णेव कट्टुमायारं)** आकार को ग्रहण न करके **(अविसेसिदूण)** विशेषता न करके **(जं)** जो **(भावाणं सामण्णं गहणं)** पदार्थों का सामान्य ग्रहण करना सो **(दंसणं)** दर्शन[२] है **(इदि)** ऐसा **(समये)** शास्त्र में **(भण्णए)** कहा है।

१. समयसार गाथा २०४, परमात्मप्रकाश अध्याय १, गाथा १०५,१०७

२. ''विषयविषयिसन्निपाते दर्शनम्।'' अर्थ ह्न पदार्थ और इन्द्रिय का सम्बन्ध होने पर दर्शन होता है। (इस दर्शन गुण को सामान्य चेतना कहा जाता है।)

भावार्थ ह्न पदार्थों का सामान्य ग्रहण करना सो उसे दर्शन कहते हैं। उसमें ''यह काला है, यह घड़ा है, यह वह है'' इत्यादि किसी भी प्रकार की विशेषता पैदा नहीं होती, अथवा आत्मा के उपयोग का पदार्थ की ओर झुकना सो दर्शन है। (ज्ञान होने से पूर्व सामान्य प्रतिभासरूप चेतना के व्यापार को दर्शन उपयोग कहते हैं।)।।४३।।

दर्शन और ज्ञान की उत्पत्ति होने में नियम

दंसणपुव्वं णाणं छदमत्थाणं ण दुण्णि उवओगा।
जुगवं जह्मा केवलिणाहे जुगवं तु ते दोवि।।४४।।

जिनवर कहें छद्मस्थ के हो ज्ञान दर्शनपूर्वक।
पर केवली के साथ हों दोनों सदा यह जानिये।।४४।।

अन्वयार्थ ह्न (छदमत्थाणं) अल्प ज्ञानियों को **(दंसणपुव्वं)** दर्शनपूर्वक **(णाणं)** ज्ञान होता है **(जह्मा)** इस कारण **(दुण्णि उवओगा)** दो उपयोग **(जुगवं)** एक साथ **(न)** नहीं होते **(तु)** परन्तु **(केवलिणाहे)** केवली भगवान को **(ते दोवि)** दोनों उपयोग **(जुगवं)** एक साथ होते हैं।

भावार्थ ह्न अल्पज्ञानियों को पहले दर्शन होता है, फिर ज्ञान होता है, दो उपयोग साथ नहीं होते, किन्तु सर्वज्ञदेव को दर्शन और ज्ञान, दोनों उपयोग एक साथ होते हैं।।४४।।

व्यवहारचारित्र का लक्षण और भेद

असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं।
वदसमिदिगुत्तिरूवं ववहारणया दु जिणभणियं।।४५।।

अशुभ से विनिवृत्त हो व्रत समितिगुप्तिरूप में।
शुभभावमय हो प्रवृत्ती व्यवहारचारित्र जिन कहें।।४५।।

अन्वयार्थ ह्न (असुहादो) अशुभ क्रियाओं से **(विणिवित्ती)** निवृत्त

https://AtmaDharma.com & https://AtmaDharma.org

होना **(य)** और **(सुहे पवित्ती)** शुभ में प्रवृत्ति करना सो **(ववहारणया)** व्यवहारनय से **(चारित्तं)** चारित्र **(जाण)** जानो। और वह चारित्र **(वदसमिदिगुत्तिरूवं)** व्रत, समिति और गुप्तिरूप है, ऐसा **(जिणभणियं)** जिनेश्वर भगवान ने कहा है।

भावार्थ ह्न १) व्यवहारचारित्र ह्न १. यह गाथा सम्यग्दृष्टि के व्यवहारचारित्र की है। (मिथ्यादृष्टि के व्यवहारचारित्र नहीं होता।) चारित्र गुण की पर्याय की शुद्धि का नियम ऐसा है कि उस गुण की पर्याय चौथे गुणस्थान से क्रमश: शुद्ध होती है, इसलिए चौथे से दसवें गुणस्थान के अन्त तक उस चारित्र की एक पर्याय के दो अंश होते हैं। एक वीतरागी अंश जो संवर-निर्जरारूप है और दूसरा रागांश, जो आस्रव-बन्धरूप है।

यह गाथा छठवें गुणस्थान के भावलिंगी का व्यवहार-चारित्र कैसा होता है अर्थात् वहाँ शुभ रागांश जो आस्रव-बन्धरूप शुभोपयोग है, वह कैसा होता है ह्न यह समझाती है।

२. तत्त्वार्थसूत्र में आस्रव पदार्थ का निरूपण करते हुए महाव्रत-अणुव्रत को भी आस्रवरूप कहा है, तो वे उपादेयरूप कैसे होंगे ? तथा आस्रव तो बन्ध का साधक है और चारित्र मोक्ष का साधक है, इसलिए उन महाव्रतादि रूप आस्रव भावों को चारित्रपना सम्भवित नहीं है। ३. किन्तु सर्व कषाय रहित उदासीन भाव (वीतराग भाव) का नाम ही चारित्र है। ४. चारित्रमोह के देशघाति स्पर्धकों के उदय के निमित्त से जो महामन्द प्रशस्त राग होता है, वह तो चारित्र का मल है। उसे छूटता न जानकर उसका त्याग नहीं करते और सावद्य योग का ही त्याग मुनि करते हैं। वे हिंसादि तीव्र कषायरूप भावों का त्याग करते हैं तथा किसी मन्द कषायरूप महाव्रतादि[1] का पालन करते हैं, परन्तु उसे मोक्षमार्ग नहीं मानते। ५. उसे व्यवहारचारित्र कहा है, इसका कारण यह है कि व्यवहार नाम उपचार का है। महाव्रतादि[2] होते ही पुरुषार्थ बढ़ाकर

१. प्रवचनसार (जयपुर से प्रकाशित), गाथा १५७, पृष्ठ ३१८, पंचास्तिकाय (जयपुर से प्रकाशित), गाथा १३७, पृष्ठ १९९,

२. प्रवचनसार, गाथा ५, पृष्ठ ६

उन्हें लाँघकर वीतरागचारित्र होता है। ऐसा सम्बन्ध जानकर उन महाव्रतादिक में चारित्र का उपचार किया है, किन्तु निश्चय से तो निष्कषाय भाव ही सच्चा चारित्र है।

२) पिछली गाथा ३५ में कहे गए व्रतादि के सम्बन्ध में ह्न संवर अधिकार में जो व्रत-समिति-गुप्ति आदि कहे हैं, उन्हें निश्चय व्रत-समिति-गुप्ति आदि समझना चाहिए, अर्थात् जो निष्कषायभावरूप व्रत, समिति, गुप्ति, धर्म, अनुप्रेक्षा आदि हैं, वह निश्चय चारित्र है।।४५।।

निश्चयचारित्र का लक्षण

बहिरब्भंतरकिरियारोहो भवकारणप्पणासट्ठं।
णाणिस्स जं जिणुत्तं तं परमं सम्मचारित्तं।।४६।।

बाह्य अंतर क्रिया के अवरोध से जो भाव हों।
संसारनाशक भाव वे परमार्थ चारित्र जानिये।।४६।।

अन्वयार्थ ह्न (भवकारणप्पणासट्ठं) भव के कारणों का नाश करने के लिए **(णाणिस्स)** ज्ञानियों को **(बहिब्भंतरकिरियारोहो)** बाह्य और अभ्यन्तर[1] क्रियाओं का रोकना है **(तं)** वह **(जिणुत्तं)** जिनेश्वर देव का कहा हुआ **(परमं)** उत्कृष्ट[2] **(सम्मचारित्तं)** सम्यक् चारित्र है।

भावार्थ ह्न १) परम सम्यक् चारित्र ह्न निश्चयचारित्र कहो या परम सम्यक् चारित्र कहो, दोनों एक ही हैं। वे सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक होते हैं, इसलिए ज्ञानियों के ही होते हैं ह्न ऐसा समझना चाहिए। इस सम्बन्ध में दो गाथाएँ श्री प्रवचनसार में हैं, जो यहाँ दी जा रही हैं ह्न

चारित्र है वह धर्म है, जो धर्म है वह साम्य है।
अरु साम्य जीव का मोहक्षोभविहीन निजपरिणाम है।।७।।

१. शुभ और अशुभरूप वचन और काया की क्रिया को बाह्यक्रिया कहते हैं। शुभ तथा अशुभ मन के विकल्परूप क्रिया के व्यापार को अभ्यन्तर क्रिया कहा जाता है।

२. निश्चय।

https://AtmaDharma.com & https://AtmaDharma.org

आगम विषे कौशल्य है, अरु मोहदृष्टि विनष्ट है।
वीतराग–चरितारूढ़ हैं, वे मुनि–महात्मा 'धर्म' हैं।।९२।।

(इन गाथाओं की टीका पढ़ना चाहिए।) आचार्य देव ९२ वीं गाथा की टीका में कहते हैं कि जीव को स्वयं को धर्म हुआ है या नहीं इसकी खबर पड़ सकती है, क्योंकि अपने को 'धर्म' प्रगट हुआ है ह्र ऐसा उसमें बतलाते हैं।

२) धर्म ह्र निश्चय चारित्र मोक्ष का साक्षात् कारण है और इसलिए उसे 'धर्म' कहा है। चौथे–पाँचवे–छट्ठे गुणस्थान में उस–उस गुणस्थान के योग्य शुद्धिरूप धर्म होता है।।४६।।

ध्यानाभ्यास करने की प्रेरणा

दुविहंपि मोक्खहेउं झाणे पाउणदि जं मुणी णियमा।
तह्मा पयत्तचित्ता जूयं झाणं समब्भसह।।४७।।

अरे दोनों मुक्तिमग बस ध्यान में ही प्राप्त हो।
इसलिए चित्तप्रसन्न से नित करो ध्यानाभ्यास तुम।।४७।।

अन्वयार्थ ह्र (जं) कारण कि **(मुणी)** मुनि **(णियमा)** नियम से **(दुविहंपि)** दोनों प्रकार के भी **(मोक्खहेउं)** मोक्ष के कारणों को **(झाणे)** ध्यान से **(पाउणदि)** प्राप्त करते हैं। **(तह्मा पयत्तचित्ता)** इसलिए उसमें प्रयत्नशील होकर **(जूयं)** तुम **(झाणं)** ध्यान[१] का **(समब्भसह)** भलीभाँति अभ्यास करो।

भावार्थ ह्र निज शुद्धात्मा में एकतारूप ध्यान करने से निश्चय–व्यवहार मोक्षमार्ग प्रगट होता है, ऐसा नियम है।

१. ''उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम्।''
अर्थ ह्र उत्तम संहननवाले का एकाग्रतापूर्वक चिन्ता को रोकना सो ध्यान है। यह ध्यान अन्तर्मुहूर्त (दो घड़ी से कुछ कम समय तक) रहता है। अन्य क्रियाओं से चित्त को हटाकर एक ही क्रिया में रखने को एकाग्रचिन्तानिरोध कहते हैं।

मुनिदशा के योग्य ध्यान का सामर्थ्य प्रगट करने से जीव के सातवाँ गुणस्थान प्राप्त होता है, और उस निर्विकल्प दशा से हटकर जब वह छठवें गुणस्थान में आता है, तब उसे अट्ठाईस मूलगुणरूप व्यवहार मोक्षमार्ग होता है। जब तक श्रेणी माँड़ने का प्रचण्ड पुरुषार्थ प्रगट न करें, तब तक मुनि बारम्बार सातवें और छठवें गुणस्थान में आते–जाते हैं। इस प्रकार मुनिदशा के ध्यान का सामर्थ्य ही ऐसा होता है कि जब वे निर्विकल्प दशा में न रह सकें तब छठवें गुणस्थान के योग्य व्यवहार मोक्षमार्ग का विकल्प आता है।

जीव को चौथा गुणस्थान प्रथम प्रगट होने के काल में जो निर्विकल्प ध्यान प्रगट होता है, उस ध्यान से हटकर जब अविरत सम्यग्दृष्टि सविकल्प दशा में आता है, तब उसे आठ अंग[१] अर्थात् आठ गुणरूप सम्यक् आचरण (चरण) होता है। और कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र तथा कुतत्त्व का उसे स्वीकार नहीं होता और कुदेवादि के प्रति स्तुति, प्रशंसा, वन्दना, नमस्कार, महिमा, आदर इत्यादिरूप अनाचार उसके नहीं होता।

तथा वही जीव तब पाँचवें गुणस्थान के योग्य ध्यान का सामर्थ्य प्रगट करता है, उसे निर्विकल्प ध्यान होता है और उस ध्यान से हटकर जब सविकल्प दशा में आता है, तब उसे उस भूमिका के योग्य अणुव्रतादि का आचरण (चरण) होता है, परन्तु अव्रत के अशुभ भाव नहीं होते।

इससे ऐसा समझना चाहिए कि स्वसन्मुखतारूप ध्यान में ही ऐसा सामर्थ्य है कि जीव इस ध्यान द्वारा निश्चय और व्यवहार मोक्षमार्ग (श्रावक और मुनि की भूमिकानुसार) प्राप्त करते हैं। वहाँ जितने अंश में वीतराग भाव है, उतने अंश में सच्चा मोक्षमार्ग है।

१. आठ अंगों के नाम ह्र निःशंकितत्त्व, निःकांक्षितत्व, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि, उपगूहन अथवा उपबृंहण, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना। इसके विस्तार के लिए देखो ह्र बृहद् द्रव्यसंग्रह गाथा ४१, संस्कृत टीका, तथा समयसार गाथा २२८ से २३६ गाथा टीका और भावार्थ।

https://AtmaDharma.com & https://AtmaDharma.org

ध्यान का अभ्यास ह्न इस कारण सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के पश्चात् भी बारम्बार स्वरूप में एकाग्र होने का पुरुषार्थ करना और उसी अभ्यास में भलीभाँति सावधान रहना आवश्यक है।।४७।।

ध्यान में लीन होने का उपाय

मा मुज्झह मा रज्जह मा दुस्सह इट्ठणिट्ठअत्थेसु।
थिरमिच्छह जइ चित्तं विचित्तझाणप्पसिद्धीए।।४८।।

यदि कामना है निर्विकल्पक ध्यान में हो चित्त थिर।
तो मोह–राग–द्वेष इष्टानिष्ट में तुम ना करो।।४८।।

अन्वयार्थ ह्न (जइ) यदि **(विचित्तझाणप्पसिद्धीए)** विचित्र[1] अर्थात् अनेक प्रकार के ध्यान की प्राप्ति करने के लिए **(चित्तं)** चित्त को **(थिरं)** स्थिर करना **(इच्छह)** चाहते हो तो **(इट्ठणिट्ठअत्थेसु)** इष्ट[2] और अनिष्ट[3] पदार्थों में **(मा मुज्झह)** मोह मत करो, **(मा रज्जह)** राग मत करो और **(मा दुस्सह)** द्वेष मत करो।

भावार्थ ह्न संसारी जीव इष्ट पदार्थों में मोह करता है और उनमें अधिक अनुराग करता है तथा अनिष्ट पदार्थों में द्वेष करता है। उत्तम ध्यान की प्राप्ति के लिए ऐसा नहीं करना चाहिए।

१) कोई परपदार्थ इष्ट–अनिष्ट नहीं है ह्न १. जो अपने को सुखदायी–उपकारी हो उसे इष्ट कहते हैं, तथा जो अपने को दुखदायी–अनुपकारी हो उसे अनिष्ट कहते हैं। अब इस लोक में सब पदार्थ तो अपने–अपने स्वभाव

१. विचित्र का अर्थ 'शुभ और अशुभ विकल्प रहित तथा अनेक प्रकार के पदस्थ ध्यानादि' भी होता है।
२. पुत्र, स्त्री, धन, माला, मकानादि।
३. सर्प, शत्रु, विष, कंटकादि।

के कर्ता हैं। कोई किसी को सुख–दु:ख दाता या उपकारी–अनुपकारी नहीं है। मात्र यह जीव अपने परिणामों में उन्हें सुखदायी तथा उपकारी जानकर इष्टरूप मानता है अथवा दु:खदायी और अनुपकारी जानकर अनिष्टरूप मानता है। यदि पदार्थों में इष्ट–अनिष्टपना हो तो जो पदार्थ इष्टरूप हो वह सबको इष्टरूप ही होगा, परन्तु ऐसा तो नहीं होता। मात्र यह जीव स्वयं ही कल्पना करके उसे इष्ट–अनिष्टरूप मानता है, परन्तु वह मिथ्या कल्पना है।

२. यदि पर द्रव्य इष्ट–अनिष्ट होते और वहाँ यह जीव राग–द्वेष करता होता तो मिथ्या नाम न पाता, परन्तु वे तो इष्ट–अनिष्ट हैं नहीं और यह जीव उन्हें इष्ट–अनिष्ट मानकर राग–द्वेष करता है।[1] पदार्थ इष्ट–अनिष्ट भासित होने पर क्रोधादि होते हैं। जब तत्त्वज्ञान के अभ्यास से कोई इष्ट–अनिष्ट भासित न हो तो स्वयं क्रोधादिक उत्पन्न नहीं होते और तभी सच्चा धर्म होता है।

३. आत्मा ज्ञाता और परपदार्थ ज्ञेय हैं। वहाँ आत्मा अपने से अपने में एकरूप होकर अपने को जानता है, इसलिए निश्चयनय से अपना ज्ञाता है। परपदार्थ उसके ज्ञान का विषय है, किन्तु पर के साथ जीव एकरूप नहीं हो जाता, इसलिए पर का व्यवहारनय से ज्ञाता है। इतना ज्ञाता–ज्ञेय का व्यवहार सम्बन्ध जीव का सर्व परपदार्थों के साथ है और इसीलिए आत्मा सर्व पदार्थों का ज्ञाता है।

२) मोह–राग–द्वेष ह्न परपदार्थों को इष्ट–अनिष्ट मानना सो मिथ्यात्व–भावरूप मोह है, और उनके प्रति कषायभाव होना सो राग–द्वेष है। मिथ्यात्वरूप मोह के कारण आत्मसावधानी का सर्वथा अभाव होता हे। माया और लोभ यह दो कषायें तथा हास्य, रति और तीनों प्रकार के वेद ह्न इन सबका नाम राग है, क्योंकि वहाँ इष्टबुद्धि होकर अनुराग होता है। तथा क्रोध–मान यह दो कषाय और अरति, शोक, भय, जुगुप्सा ह्न इन सबका नाम द्वेष है, क्योंकि वहाँ अनिष्ट बुद्धि होकर द्वेष होता है। सामान्य रूप से राग–द्वेष और मोह ह्न इन

१. मोक्षमार्गप्रकाशक (जयपुर से प्रकाशित), पृष्ठ ९०–९१

https://AtmaDharma.com & https://AtmaDharma.org

सबका नाम मोह है; क्योंकि इन सब प्रसंगों में सर्वत्र आत्मा की असावधानी[१] होती है।

३) ''विचित्तझाणप्पसिद्धीए'' ह्न गाथा में यह पद है, इसके दो अर्थ होते हैं ह्न १. एक अर्थ ''विचित्र'' होता है, जिसके अनुसार पिण्डस्थ-पदस्थादि नाना प्रकार के ध्यान ऐसा अर्थ निकलता है। २. दूसरा अर्थ विगत (नष्ट) हो गया है चित्त अर्थात् मन के निमित्त से उत्पन्न होने वाले शुभाशुभ विकल्पों का समूह जिसमें, ऐसा निर्विकल्प ध्यान ह्न ऐसा भी होता है। यहाँ दोनों अर्थ लागू होते हैं।

तात्पर्य ह्न निज परमात्मस्वरूप की भावना से उत्पन्न होने वाले परमानन्द एक लक्षण धारक सुखामृत-रस द्वारा उत्पन्न तथा उसमें लीन जो परम कला है, उसमें हे जीवो ! तुम स्थिर होओ कि जिससे मोह-राग-द्वेष उत्पन्न न हों।।४८।।

ध्यान करने योग्य मन्त्र

पणतीस सोल छप्पय चदु दुगमेगं च जवह झाएह।
परमेट्ठिवाचयाणं अण्णं च गुरूवएसेण ।।४९।।

परमेष्ठीवाचक एक दो छह चार सोलह पाँच अर।
पैंतीस अक्षर जपो नित अर अन्य गुरु उपदेश से ।।४९ ।।

अन्वयार्थ ह्न (परमेट्ठिवाचयाणं) परमेष्ठी[२] वाचक **(पणतीस)** पैंतीस, **(सोल)** सोलह, **(छप्)** छह, **(पय)** पाँच, **(चदु)** चार, **(दुगं)** दो, **(एगं)** एक **(च)** और **(गुरूवएसेण)** गुरु के उपदेश द्वारा **(अण्णं)** अन्य मन्त्र, **(च)**

१. इस सम्बन्धी वर्णन मोक्षमार्गप्रकाशक (जयपुर से प्रकाशित), अध्याय २, पृष्ठ ४१, अध्याय ३ पृष्ठ ५२ से ५७ तथा अध्याय ४, पृष्ठ ८८ से ९४ तक है, वह मुमुक्षुओं को अभ्यास करने योग्य है।

२. अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्व साधु ह्न यह पाँच परमेष्ठी कहलाते हैं।

भी **(जवह)** जपो **(झाएह)** और उनका ध्यान करो।

भावार्थ ह्न ध्यान करते समय परमेष्ठिवाचक मन्त्रों* का अथवा गुरुओं की आज्ञा से सिद्धचक्र आदि मन्त्रों का जाप करना चाहिए। जीव जब स्वरूप में स्थिर नहीं रह सकता, तब उसे ऐसा व्यवहारध्यान होता है।।४९।।

अहिरन्त परमेष्ठी का लक्षण

णट्ठचदुघाइकम्मो दंसणसुहणाणवीरियमईओ।
सुहदेहत्थो अप्पा सुद्धो अरिहो विचिंतिज्जो ।।५०।।

नाशकर चऊ घाति दर्शन ज्ञान सुख अर वीर्यमय।
शुभदेहथित अरिहंत जिन का नित्यप्रति चिंतन करो ।।५० ।।

* **ध्यान करने योग्य मन्त्र ह्न**

पैतीस अक्षरों का मन्त्र ह्न

णमो अरिहंताणं णमो सिद्धाणं णमो आयरियाणं।
णमो उवज्झायाणं णमो लोए सव्वसाहूणं।। (सर्वपद)

सोलह अक्षरों का मन्त्र ह्न	अरिहन्त सिद्ध आयरिय उवज्झाय साहू। (नाम पद)
छह अक्षरों का मन्त्र ह्न	अरिहन्त सिद्ध, अरहन्त सिद्ध, अरहन्त सिसा।
	ॐ नमः सिद्धेभ्यः नमोऽर्हत्सिद्धेभ्यः।
पाँच अक्षरों का मन्त्र ह्न	असिआउसा (प्रथम अक्षर)
चार अक्षरों का मन्त्र ह्न	अरहन्त, असिसाहू, अरिहन्त।
दो अक्षरों का मन्त्र ह्न	सिद्ध, आ, ॐ, ह्रीं।
एक अक्षर का मन्त्र ह्न	अ, ॐ।

ॐ किस प्रकार बनता है ह्न

अरहंता असरीरा आयरिया तह उवझाया मुणिणो।
पढमक्खरणिप्पण्णो ओमकारो पंचपरमेष्ठी।।

अर्थ ह्न पाँच परमेष्ठियों के प्रथम अक्षर की संधि करने से ॐ बनता है, जो नीचे बताया गया है ह्न

१. अरहन्त ह्न अ
२. अशरीर (सिद्ध) ह्न अ
३. आचार्य ह्न आ
४. उपाध्याय ह्न उ
५. मुनि (सर्व साधु) ह्न म् = ॐ (ओम्)

https://AtmaDharma.com & https://AtmaDharma.org

अन्वयार्थ ह्न (णट्ठचदुघाइकम्मो) जिनने चार प्रकार के घाति कर्मों का नाश किया है, **(दंसणसुहणाणवीरियमईओ)** जो अनन्त दर्शन, सुख, ज्ञान और वीर्य सहित हैं, **(सुहदेहत्थो)** सप्त धातु रहित परम औदारिक शरीर में स्थित हैं **(सुद्धो)** अठारह दोष रहित और शुद्ध ज्ञानादि सहित हैं **(अरिहो अप्पा)** वे आत्मा अर्हन्त परमात्मा है और वे **(विचिंतिज्जो)** ध्यान करने योग्य हैं।

भावार्थ ह्न ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अंतराय ह्न यह चार घातिया कर्म हैं। इन्हें नष्ट करने वाले अनंत दर्शन, अनंत ज्ञान, अनंत सुख और अनंत वीर्य अर्थात् अनन्त चतुष्टय को प्राप्त, निश्चय से अशरीर किंतु व्यवहार से रक्त-मांसादि सप्त धातुओं से रहित, उत्तम परम औदारिक देह में स्थित और क्षुधा, तृषा, जन्म, जरा आदि अठारह दोष[१] रहित देव ही अरहन्त परमेष्ठी हैं।।५०।।

सिद्ध परमेष्ठी का लक्षण

णट्ठट्ठकम्मदेहो लोयालोयस्स जाणओ दट्ठा।
पुरिसायारो अप्पा सिद्धो झाएह लोयसिहरत्थो।।५१।।

लोकाग्रथित निर्देह लोकालोक ज्ञायक आतमा।
अठकर्मनाशक सिद्धप्रभु का ध्यान तुम नित ही करो।।५१।।

अन्वयार्थ ह्न (णट्ठट्ठकम्मदेहो) जिन्होंने ज्ञानावरणादि अष्ट कर्मरूप शरीर का नाश किया है, **(लोयालोयस्य)** लोक और अलोक के **(जाणओ दट्ठा)** जानने तथा देखने वाले हैं **(पुरिसायारो)** देहरहित किन्तु पुरुष के आकार में **(लोयसिहरत्थो)** लोक के अग्रभाग में स्थित हैं, वे **(अप्पा सिद्धो)** आत्मा सिद्ध परमात्मा हैं, उनका **(झाएह)** ध्यान करना चाहिए।

भावार्थ ह्न चार घातिया (ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय) तथा चार अघातिया (वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र) ह्न इन आठ कर्मों का नाश करने वाले, तीन लोक और तीन काल के समस्त पदार्थों को दर्पण की भाँति देखने-जानने वाले, अन्तिम मनुष्य शरीर के आकार से किंचित् न्यून, पुरुषाकारवत् आत्मा के प्रदेशों का आकार धारण करने वाले और लोक के अग्रभाग में स्थित सिद्ध परमेष्ठी हैं। उनका सदा ध्यान करना चाहिए।।५१।।

१. क्षुधा तृषा भयं द्वेषो रागो मोहश्च चिन्तनम्।
जरा रुजा च मृत्युश्च खेदः स्वेदो मदोऽरतिः।।
विस्मयो जननं निद्रा विषादोऽष्टादश स्मृताः।
एतैर्दोषैर्विनिर्मुक्तः सोऽयमाप्तो निरंजनः।।
अर्थ ह्न क्षुधा, तृषा, भय, द्वेष, राग, मोह, चिन्ता, बुढ़ापा, रोग, मृत्यु, खेद, पसीना, मद, अरति, आश्चर्य, जन्म, निद्रा और शोक ह्न इन अठारह दोषों से रहित आप्तदेव अथवा अरिहन्त कहलाते हैं।

आचार्य परमेष्ठी का लक्षण

दंसणणाणपहाणे वीरियचारित्तवरतवायारे।
अप्पं परं च जुंजइ सो आयरियो मुणी झेओ।।५२।।

ज्ञान-दर्शन-वीर्य-तप एवं चरित्राचार में।
जो जोड़ते हैं स्वपर को ध्यावो उन्हीं आचार्य को।।५२।।

अन्वयार्थ ह्न (दंसणणाणपहाणे) दर्शनाचार और ज्ञानाचार जिनमें मुख्यरूप से विद्यमान हैं, ऐसे **(वीरियाचारित्तवरतवायारे)** वीर्याचार, चारित्राचार और तपाचार में ह्न इन पाँच आचारों में **(मुणी)** जो मुनि **(अप्पं)** अपने को **(च)** तथा **(परं)** पर को **(जुंजई)** युक्त करते हैं **(सो आयरिओ)** वे आचार्य परमेष्ठी **(झेओ)** ध्यान करने योग्य हैं।

भावार्थ ह्न जो साधु दर्शन, ज्ञान, वीर्य, चारित्र और तप ह्न इन पाँच आचारों में स्वयं लीन रहते हैं, उनका आचरण करते हैं और दूसरों से भी आचरण कराते हैं, उन्हें आचार्य परमेष्ठी कहते हैं, उनका सदा ध्यान करना चाहिए।

सम्यग्दर्शन का आचरण सो दर्शनाचार, सम्यग्ज्ञान का आचरण सो ज्ञानाचार, वीतराग चारित्रभाव का आचरण सो चारित्राचार, तप का आचरण सो तपाचार

https://AtmaDharma.com & https://AtmaDharma.org

और इन चारों आचारों का पालन करने में अपनी शक्ति को नहीं छिपाना सो वीर्याचार है।।५२।।

उपाध्याय परमेष्ठी का लक्षण

जो रयणत्तयजुत्तो णिच्चं धम्मोवएसणे णिरदो।
सो उवझाओ अप्पा जदिवरवसहो णमो तस्स।।५३।।

रतनत्रय युत नित निरत जो धर्म के उपदेश में।
सब साधुजन में श्रेष्ठ श्री उवझाय को वंदन करें।।५३।।

अन्वयार्थ ह्न (जो) जो **(रयणत्तयजुत्तो)** रत्नत्रय सहित **(णिच्चं)** सदा **(धम्मोवएसणे)** धर्मोपदेश करने में **(णिरदो)** लीन रहते हैं **(सो अप्पा)** वह आत्मा **(जदिवरवसहो)** यतियों में श्रेष्ठ **(उवझाओ)** उपाध्याय हैं, **(तस्स)** उन्हें **(णमो)** नमस्कार हो।

भावार्थ ह्न जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र सहित हैं और सदा धर्म का उपदेश देने में तत्पर हैं, मुनीश्वरों में प्रधान हैं, उन उपाध्याय परमेष्ठी को द्रव्य तथा भावरूप नमस्कार हो।।५३।।

साधु परमेष्ठी का लक्षण

दंसणणाणसमग्गं मग्गं मोक्खस्स जो हु चारित्तं।
साधयदि णिच्चसुद्धं साहू स मुणी णमो तस्स।।५४।।

जो ज्ञान-दर्शनपूर्वक चारित्र की आराधना।
कर मोक्षमारग में खड़े उन साधुओं को हो नमन।।५४।।

अन्वयार्थ ह्न (जो मुणी) जो मुनि **(दंसणणाणसमग्गं)** दर्शन और ज्ञान सहित **(मोक्खस्स)** मोक्ष के **(मग्गं)** मार्गरूप **(णिच्च)** सदा **(सुद्धं)** शुद्ध **(चारित्तं)** चारित्र को **(साधयदि)** साधते हैं **(स साहू)** वे साधु परमेष्ठी हैं, **(णमो तस्स)** उन्हें नमस्कार हो।

भावार्थ ह्न जो मुनि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को साधते हैं अर्थात् रत्नत्रय को धारण करते हैं, उन्हें साधु परमेष्ठी कहते हैं। रत्नत्रय ही मोक्षमार्ग है।।५४।।

(यह पंचपरमेष्ठी का स्वरूप 'नियमसार' गाथा ७१ से ७५ में तथा 'मोक्षमार्ग-प्रकाशक' अध्याय १ में दिया है, वह जिज्ञासुओं को पढ़ लेना चाहिए। पंचपरमेष्ठी व्यवहार ध्यान का विषय हैं, इसलिए उनका ध्यान भावलिंगी मुनि का व्यवहारचारित्र है। इससे सम्बन्धित गाथा ४५ पहले आ चुकी है, उसे भी पढ़ लें।)

ध्येय, ध्याता और ध्यान का लक्षण

जं किंचिवि चिंततो णिरीहवित्तो हवे जदा साहू।
लद्धूण य एयत्तं तदाहु तं तस्स णिच्चयं झाणं।।५५।।

निजध्येय में एकत्व निष्पृहवृत्ति धारक साधुजन।
चिंतन करें जिस किसी का भी सभी निश्चय ध्यान है।।५५।।

अन्वयार्थ ह्न (य) और **(जदा)** जब **(साहू)** साधु **(एयत्तं लद्धूण)** एकाग्रता प्राप्त करके **(जं किंचिवि)** जो कुछ भी **(चिंततो)** चिंतवन करता हुआ **(णिरीहवित्तो)** इच्छा रहित **(हवे)** होता है **(तदा)** तब **(तं)** उस कारण से **(तस्स णिच्चयं)** उसे निश्चय **(झाणं)** ध्यान **(आहु)** कहते हैं।

भावार्थ ह्न १) यत्किंचित् अपि चिंतयन् ह्न निश्चय ध्यान प्रगट होने से पूर्व जीव को अंतर्जल्परूप व्यवहार धर्मध्यान होता है, तब जो निर्विकल्प ध्यान प्रगट होता है, वह निश्चय अर्थात् सच्चा ध्यान है। उसके द्वारा जीव को संवर-निर्जरा होती है। कहा है कि ह्न

गुप्तेन्द्रियमनो ध्याता, ध्येयं वस्तु यथास्थितम्।
एकाग्रचिन्तनं ध्यानं, फलं संवरनिर्जरौ।।

अर्थ ह्न ध्याता = इन्द्रिय और मनगुप्ति प्राप्त करने वाला ध्याता है। वस्तु

https://AtmaDharma.com & https://AtmaDharma.org

यथास्थितम् अर्थात् निज ज्ञायक भाव ध्येय है और उसमें एकाग्रता सो ध्यान है। उसका फल संवर-निर्जरा है।

२) निश्चय ध्यान का स्वरूप ह्न ध्यान का अभ्यास करते-करते तब समस्त शुभाशुभ विकल्प शान्त हो जायें, सब शुद्ध बुद्ध नित्य निरंजन निर्विकार चिदानन्दस्वरूप निज आत्मा में होने वाली एकाग्रता सो निश्चय ध्यान है।।५५।।

परम ध्यान का लक्षण

मा चिट्ठह मा जंपह मा चिंतह किं वि जेण होइ थिरो।
अप्पा अप्पम्मि रओ इणमेव परं हवे झाणं।।५६।।

बोलो नहीं सोचो नहीं अर चेष्टा भी मत करो।
उत्कृष्टतम यह ध्यान है निज आतमा में रत रहो।।५६।।

अन्वयार्थ ह्न हे भव्य पुरुषों ! **(किं वि)** कुछ भी **(मा चिट्ठह)** चेष्टा न करो, **(मा जंपह)** बोलो नहीं **(मा चिंतह)** चिन्तवन नहीं करो, **(जेण)** जिससे **(अप्पा)** आत्मा **(अप्पम्मि)** आत्मा में **(रओ)** लीन होकर, **(थिरो)** स्थिर **(होइ)** होता है। **(इणमेव)** यही **(परं)** उत्कृष्ट **(झाणं)** ध्यान **(हवे)** है।

भावार्थ ह्न १) निश्चय धर्मध्यान, निश्चय शुक्लध्यान ह्न यह दोनों[१] ध्यान स्वात्माश्रित होते हैं। आत्मध्यान के अतिरिक्त अन्य सब घोर संसार का मूल है। ध्यान-ध्येयादि के विकल्प वाला शुभ तप भी कल्पनामात्र रम्य है ह्न ऐसा जानकर बुद्धिमान पुरुष सहज परमानन्द रूपी अमृत के प्रवाह रूप एक सहज परमात्मा का आश्रय करते हैं। अपने आत्मा में स्थिरता द्वारा लीन होने से यह परम ध्यान प्रगट होता है। वहाँ किसी भी चेष्टा का, बोलने का या चिन्तवन का बुद्धिपूर्वक विकल्प नहीं होता अर्थात् स्वात्मा के आश्रय से ही ऐसी निर्विकल्प दशा प्रगट होती है। पूर्वकाल में व्यवहार ध्यान था, इसलिए

१. नियमसार, कलश १२३, गाथा ९२-९३, पृष्ठ १७४-१७८, समयसार गाथा ३०६

वह प्रगट हुआ ऐसा नहीं है, किन्तु अपना पुरुषार्थ बढ़ाकर उस विकल्प का अभाव करके आत्मा अपने आश्रय से (पर से और व्यवहार से परम निरपेक्ष) शुद्ध चारित्ररूप परम दशा प्रगट करता है, ऐसा समझना चाहिए। यह निश्चय धर्मध्यान और निश्चय शुक्लध्यान अमृत-कुम्भस्वरूप है, व्यवहार ध्यान विषकुम्भ समान है।

२. ''मा चेष्टत, मा जल्पत, मा चिन्तयत'' का अर्थ ह्न जीव की ऐसी दशा होने पर शुभाशुभ चेष्टारूप कार्य का व्यापार तथा शुभाशुभ रूप अन्तरंग-बहिरंग रूप वचन का व्यापार तथा जड़ मन का वैसा व्यापार उस-उस पुद्गल के उपादान कारण से नहीं होता, इसलिए वह रुक जाता है, ऐसा कहा जाता है। जीव की ध्यानरूप पर्याय तो वहाँ निमित्तमात्र है। जीव के शुभाशुभ विकल्पों का व्यय हो जाता है और ध्यानरूप पर्याय का उत्पाद होता है।

३. उसका फल सुख है ह्न सहज शुद्ध[१] ज्ञान-दर्शनस्वभावी परमात्मतत्त्व के सम्यग्दर्शन-ज्ञान और अनुचरण रूप अभेद रत्नत्रय है। उस स्वरूप परम ध्यान से सर्व प्रदेशों में आह्लादजनक सुखास्वादरूप परिणति होती है, वह ध्यान है और उस का फल आत्मिक सुख है।।५६।।

तप, व्रत और श्रुत में लीन होने की प्रेरणा

तवसुदवदवं चेदा झाणरहधुरंधरो हवे जम्हा।
तम्हा तत्तियणिरदा तल्लद्धीए सदा होह।।५७।।

व्रती तपसी श्रुताभ्यासी ध्यान में हों धुरन्धर।
निजध्यान करने के लिए तुम करो इनकी साधना।।५७।।

अन्वयार्थ ह्न (जम्हा) क्योंकि **(तवसुदवदवं)** तप, श्रुत और व्रत को धारण करने वाला **(चेदा)** आत्मा **(झाणरहधुंरधरो)** ध्यानरूपी रथ की धुरा

१. बृहद् द्रव्यसंग्रह, पृष्ठ २५५-२५६, वहाँ जीव की इस दशा के भिन्न-भिन्न ६५ नाम दिए हैं।

https://AtmaDharma.com & https://AtmaDharma.org

को धारण करने वाला **(हवे)** होता है, **(तम्हा)** इसलिए **(तल्लद्धीए)** उस परम ध्यान की प्राप्ति के लिए **(सदा)** निरन्तर **(तत्तियणिरदा)** तप, श्रुत और व्रत ह्न इन तीनों में लीन **(होह)** होओ।

भावार्थ ह्न १) तप ह्न १. मोक्षशास्त्र (तत्त्वार्थसूत्र) में ''तपसा निर्जरा च'' कहा है। अर्थात् तप से निर्जरा भी होती है। शुभ-अशुभ इच्छाएँ मिटने पर उपयोग शुद्ध होता है, इसलिए तप द्वारा निर्जरा[1] कही है।

२. तप का अर्थ मुनित्व होता है, इसीलिए तीर्थंकर देवों के दीक्षाकल्याणक को ''तपकल्याणक'' कहा जाता है।

३. आत्मा के शुद्ध स्वरूप में स्वरूप[2] विश्रान्त निस्तरंग चैतन्य का दैदीप्यमान होना सो तप है। अपने अखण्डित प्रतापरूप स्वशुद्धात्मा के प्रतपन द्वारा काम-क्रोधादि शत्रुओं पर विजय प्राप्त करना सो तप है। प्रसिद्ध शुद्ध कारण परम तत्त्व में सदा अन्तर्मुख रहकर, लीन रहकर प्रतापवन्त वर्तना सो तप है। ऐसा शुद्ध भावरूप परिणमन सो निश्चय तप है। और तप सम्बन्धी शुभ विकल्प सो ज्ञानी का व्यवहार तप है।

२) द्रव्य श्रुत ह्न १. वास्तव में आगम के बिना पदार्थों[3] का निश्चय नहीं किया जा सकता; क्योंकि आगम ही, जिसके त्रिकाल उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप तीन लक्षण वर्तते हैं, ऐसे सकल पदार्थसमूह के यथातथ्यज्ञान द्वारा, सुस्थित अन्तरंग से गम्भीर है। मुमुक्षु को भगवान अरिहन्त सर्वज्ञ से स्वयं जानकर कहे गए शब्दब्रह्म में कि जिसका अनेकान्तरूपी लक्षण प्रगट है, उसमें निष्णात होना चाहिए, क्योंकि पदार्थों के निश्चय बिना ध्यानरूप एकाग्रता सिद्ध नहीं होती।

२. टंकोत्कीर्ण ज्ञायक एकस्वभाव ऐसा जो निज परमात्मपदार्थ उससे प्रारम्भ करके सर्व पदार्थ सम्बन्धी निर्णय आगम से होता है। जीवभेद-कर्मभेद

१. मोक्षमार्गप्रकाशक (जयपुर से प्रकाशित), अध्याय ७, पृष्ठ २३०
२. प्रवचनसार, गाथा १४, जयसेनाचार्य की टीका।
३. प्रवचनसार, गाथा २३२ तथा श्री जयसेनाचार्य की टीका।

प्रतिपादक आगम-अभ्यास के उपरान्त आगम पदों में सारभूत चिदानन्द एक परमतत्त्व है, उसके प्रकाशक अध्यात्म परमागमों द्वारा पदार्थ की पहिचान हो सकती है, इसलिए आगम-परमागम का अभ्यास करना आवश्यक है।

३. जिसमें अनेकान्त[1] रूप सच्चे जीवादि तत्त्वों का निरूपण है तथा जो सच्चा रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग दर्शाती है, वह जैन शास्त्रों की उत्कृष्टता है।

४. तीर्थंकर परमदेव की वाणी जो पूर्वापर दोष रहित तथा शुद्ध है, उसे आगम[2] कहा है। भगवान अरिहन्त[3] के मुख-कमल से निकली हुई, सकल जीवों को श्रवण का सौभाग्य प्राप्त हो ऐसी सुन्दर आनन्द झरती अनक्षरात्मक दिव्यध्वनि और उस पर से गणधरदेवों ने तथा उनका अनुसरण करके आचार्यादि ज्ञानियों ने जिन वीतरागी शास्त्रों की रचना की वे आगम हैं।

५. जो आगम मोक्षमार्ग का प्रकाश[4] करे वही आगम पढ़ने-सुनने योग्य है, क्योंकि जीव संसार में नाना प्रकार के दुःखों से पीड़ित हैं। यदि शास्त्ररूपी दीपक द्वारा मोक्षमार्ग को प्राप्त कर लें तो उस मोक्षमार्ग में गमन करके उन दुःखों से मुक्त हो जायें। अब मोक्षमार्ग तो एक वीतरागभाव है, इसलिए जिन शास्त्रों में किसी प्रकार राग-द्वेष-मोह का निषेध करके, वीतरागभाव का प्रयोजन प्रगट किया हो, वही शास्त्र पढ़ने-सुनने योग्य हैं।

६. इस जीव का मुख्य कर्तव्य आगमज्ञान[5] है। वह होने पर तत्त्वों की श्रद्धा होती है, तत्त्वश्रद्धा होने पर संयम होता है। आगम से आत्मज्ञान की भी प्राप्ति होती है, जिससे सहज मोक्ष प्राप्त होता है। धर्म के अनेक अंग हैं, उनमें भी एक ध्यान के अतिरिक्त इससे ऊँचा धर्म का एक भी अंग नहीं है, ऐसा जानकर हर प्रकार से आगम का अभ्यास करना योग्य है।

१. मोक्षमार्गप्रकाशक (जयपुर से प्रकाशित), अध्याय ७, पृष्ठ २२४
२. नियमसार (जयपुर से प्रकाशित), गाथा ८, पृष्ठ १९
३. नियमसार (जयपुर से प्रकाशित), गाथा १०८, पृष्ठ २११
४. मोक्षमार्गप्रकाशक, अध्याय १, पृष्ठ १४
५. मोक्षमार्गप्रकाशक, अध्याय १, पृष्ठ २०

https://AtmaDharma.com & https://AtmaDharma.org

७. जिसने प्रथम भूमिका में गमन[१] किया है ऐसे जीव को, सर्वज्ञ द्वारा स्वयं जानकर कहे हुए और सर्व प्रकार से अबाधित ऐसे द्रव्यश्रुत प्रमाण को प्राप्त करके उसमें क्रीड़ा करना चाहिए। उसके संस्कार से विशेष प्रकार की संवेदन (ज्ञान) शक्तिरूप सम्पदा प्रगट करनी चाहिए। आनन्द की फुहार प्रगट करने वाले प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा अथवा उससे अविरुद्ध अन्य प्रमाण समूह द्वारा तत्त्वत: समस्त वस्तुमात्र को जानना चाहिए कि जिसके अतत्त्व अभिनिवेश के संस्कार करने वाला मोहक्षय को प्राप्त होता ही है; इसलिए मोह का क्षय करने में परम शब्दब्रह्म की उपासना का भावज्ञान के अवलम्बन द्वारा दृढ़ किए हुए परिणाम से सम्यक् प्रकार से अभ्यास करना चाहिए। यह एक उपाय है।

३) द्रव्यश्रुत के सार पद ह्न भावश्रुतज्ञान ध्यान ह्न १. जिस प्रकार बाँस के ऊपर बने हुए विचित्र चित्रों[२] को धो डालने से बाँस शुद्ध हो जाता है, उसी प्रकार यह जीव भी जब गुरु के निकट शुद्धात्मस्वरूप के प्रकाशक परमागम को जानता है ह्न ''एकोऽहं निर्मम: शुद्धो ज्ञानी योगीन्द्रगोचर:। बाह्या: संयोगजा भावा: यत्त: सर्वेऽपि सर्वदा।'' इत्यादि प्रकार से जानता है तथा देह और आत्मा के बीच के अत्यन्त भेद को जल और अग्नि की भाँति भिन्न लक्षण द्वारा लक्षित होने से जानता है ह्न इस प्रकार अनुमान ज्ञान को जानता है तथा वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदन ज्ञान को जानता है, तब ऐसे आगमज्ञान-अनुमानज्ञान-स्वसंवेदन प्रत्यक्षज्ञान द्वारा (यह जीव) शुद्ध होता है।

२. **एगो मे सस्सदो[३] अप्पा णाणदंसणलक्खणो।**
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा।।

ऐसी एकत्व भावना द्वारा स्वजन-परजनादि के प्रति जीव निर्मोहपना प्राप्त करता है।

३. वीतराग-सर्वज्ञ प्रणीतशास्त्र[४] द्वारा ''एको मे सस्सदो अप्पा'' इत्यादि परमात्मोपदेशक श्रुतज्ञान द्वारा प्रथम आत्मा को जानता है, फिर विशिष्ट अभ्यास

१. प्रवचनसार गाथा ८६, पृष्ठ १२१ २. पंचास्तिकाय गाथा २०

३. नियमसार, गाथा १०२, अर्थ ह्न ज्ञान-दर्शन लक्षणवान शाश्वत एक आत्मा मेरा है, अन्य सर्व भाव मुझसे बाह्य हैं।

४. प्रवचनसार गाथा ८६, (जयसेनाचार्य की टीका) यहाँ भी नियमसार गाथा १०२ आधाररूप है।

द्वारा परम समाधि-काल में रागादि विकल्परहित आत्मा का अनुभव करता है।

४. अपध्यान[१] को छोड़कर ह्न

ममत्तिं परिवज्जामि णिमम्मत्ति वट्ठिदो।
आलंबणं च मे आदा अवसेसाइं वोसरे।।९९।। (नियमसार)

अर्थ ह्न मैं ममत्व को छोड़ता हूँ और निर्ममत्व में स्थिर रहता हूँ। आत्मा मेरा आलम्बन है और शेष को मैं छोड़ता हूँ।

आदा खु मज्झ णाणे आदा मे दंसणे चरित्तय।
आदा पच्चक्खाणे आदा मे संवरे जोगे।।१००।।

अर्थ ह्न सचमुच मेरे ज्ञान में आत्मा है, मेरे दर्शन में तथा चारित्र में आत्मा है, मेरे प्रत्याख्यान में आत्मा है, मेरे संवर में तथा योग (शुद्धोपयोग) में आत्मा है।

एगो मे सासदो अप्पा णाणदंसणलक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संयोगलक्खणा।।

(अर्थ ह्न पहले फुटनोट नं. २ में आ गया है।)

ह्न इत्यादि सारपदों को ग्रहण करके ध्यान कर्त्तव्य है (ह्नऐसा समझना चाहिए) बृहद् द्रव्यसंग्रह गाथा ५७, पृष्ठ २१३।

५. इस शास्त्र का सारपद गाथा १३ ह्न

अ) ''सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया'' सर्व जीव शुद्धनय से शुद्ध हैं। समयसार गाथा १०९ से ११२ में श्री जयसेनाचार्य ने यह पद आधाररूप से लिया है।

ब) सत्ता ग्राहक शुद्ध द्रव्यार्थिकनय के बल से पूर्वोक्त व्यंजन-पर्यायों से, सिद्ध और संसारी समस्त जीव सर्वथा व्यतिरिक्त ही हैं, ''सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया'' ह्न ऐसा वचन होने से। (नियमसार गाथा १९, टीका, पृष्ठ ४६)

६. शुद्धनय के विषयभूत ज्ञायकभाव के आश्रय से जीव सम्यग्दृष्टि होता है। तत्सम्बन्धी सारपद ह्न

ववहारोऽभूयत्थो भूयत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।
भूयत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो।। (श्री समयसार)

१. बृहद् द्रव्यसंग्रह (जयपुर से प्रकाशित), गाथा ५७ की टीका, पृष्ठ २५८

https://AtmaDharma.com & https://AtmaDharma.org

७. **चिद्रूप: केवल: शुद्ध: आनन्दात्मेत्यहं स्मरे।**
मुक्त्यै सर्वज्ञोपदेश: श्लोकार्धेन निरूपित: ।।२२।।

अर्थ ह्न मैं चिद्रूप, केवल शुद्ध आनन्दस्वरूप हूँ ह्न ऐसा स्मरण करता हूँ। मुक्ति के लिए सर्वज्ञ का उपदेश इस आधे श्लोक से निरूपित है।

४) व्रत (निश्चय-व्यवहार) ह्न निश्चयव्रत का स्वरूप गाथा ३५ में तथा व्यवहार व्रत का स्वरूप गाथा ४५ में आ गया है। इतना याद रखना चाहिए कि निश्चयव्रत के बिना सच्चे व्यवहारव्रत किसी के भी नहीं हो सकते हैं। निश्चयव्रत रहित व्रतों को भगवान ने बालव्रत कहा है।

५) परम ध्यान की प्राप्ति का फल ह्न तप, श्रुत और व्रत में लीन होने का उपदेश परम ध्यान की प्राप्ति के लिए है। अर्थात् पुरुषार्थ बढ़ाकर, विकल्प तोड़कर स्वरूप में लीन होना चाहिए। उसका फल ह्न १. चार गतियों का निवारण, २. शुद्धात्म तत्त्व की उपलब्धिरूप निर्वाण, ३. परतन्त्रता की निवृत्ति और ४. स्वतन्त्रता की प्राप्ति है।।५७।।

ग्रन्थकार का अन्तिम निवेदन

दव्वसंगहमिणं मुणिणाहा दोससंचयचुदा सुदुपुण्णा।
सोधयंतु तणुसत्तधरेण णेमिचंदमुणिणा भणियं जं।।५८।।

अल्प श्रुतधर नेमिचंद मुनि द्रव्यसंग्रह संग्रही।
अब दोषविरहित पूर्णश्रुतधर साधु संशोधन करें।।५८ ।।

अन्वयार्थ ह्न (तणुसत्तधरेण) अल्पज्ञान के धारक **(णेमिचंदमुणिणा)** नेमिचन्द्र मुनि ने, **(जं)** जो **(इणं)** यह **(दव्वसंगहं)** द्रव्यसंग्रह नामक ग्रन्थ **(भणियं)** कहा है, वह **(दोससंचयचुदा)** दोषों के समूह से रहित और **(सुदुपुण्णा)** श्रुतज्ञान में पूर्ण ऐसे **(मुणिणाहा)** मुनियों के स्वामी (आचार्य) **(सोधयंतु)** शुद्ध करें।

भावार्थ ह्न रागादि व संशयादि दोष रहित द्रव्यश्रुत[१] और भावश्रुत[२] के ज्ञाता मुनीश्वर, अल्पज्ञानी नेमिचन्द्र मुनि द्वारा रचित द्रव्यसंग्रह का संशोधन करें।।५८।।

***

१. राग-द्वेष रहित जीवादि छह द्रव्य, सात तत्त्व, नव पदार्थों का प्रतिपादक वर्ण-पद-वाक्यरूप द्रव्य-आगम सो द्रव्यश्रुत है।

२. संशय, विमोह और विभ्रमरहित शुद्ध आत्मा का सम्यग्ज्ञान सो भावश्रुत है।

अर्थसंग्रह

अघातिकर्म ह्न जो ज्ञान, दर्शन, सम्यक्त्व, चारित्र, वीर्य आदि जीव के स्वभाव के घात में निमित्त नहीं है, किन्तु अव्याबाध, अगुरुलघु आदि प्रतिजीवी गुणों के घात में निमित्त है, उसे अघातिकर्म कहते हैं। उनके नाम ह्न वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र हैं। (उनके निमित्त से जीव को बाह्य सामग्री का सम्बन्ध होता है।)

अधिकार ह्न प्रकरण, परिच्छेद, अध्याय।

अचक्षुदर्शन ह्न नेत्र के अतिरिक्त शेष इन्द्रियों तथा मन के सम्बन्ध से होनेवाले मतिज्ञान से पूर्व होनेवाले सामान्य प्रतिभास अथवा अवलोकन को अचक्षुदर्शन कहते हैं।

अजीव ह्न सुख-दुःख का ज्ञान, हित का उद्यम और अहित का भय जिसे सदा (कभी भी) नहीं होता, उसे श्रमण अजीव कहते हैं। (अजीव द्रव्य के पाँच प्रकार हैं ह्न पुद्गल परमाणु, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और कालाणु।) (ह्न पंचास्तिकाय, गाथा १२५)

अणुह्न सर्व स्कन्धों के अन्तिम भाग को परमाणु जानो। वह अविनाशी, एक, शाश्वत, मूर्त रूप से उत्पन्न होने वाला तथा अशब्द है। मूर्तत्व (रूपित्व) के कारणभूत स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण के परमाणु से कथनमात्र द्वारा ही भेद किया जाता है। जो पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु ह्न इन चार धातुओं का कारण है, उसे परमाणु जानो कि जो परिणाम गुण वाला है और स्वयं अशब्द है। (पंचास्तिकाय गाथा ७७-७८)

अधर्मद्रव्य ह्न स्वयं गतिपूर्वक स्थितिपरिणाम को प्राप्त पुद्गल और जीवों को

https://AtmaDharma.com & https://AtmaDharma.org

स्थिर रहने में सहकारी कारण अधर्मद्रव्य है, जैसे ह्न पथिक को छाया।

अनुप्रेक्षाह्न जैसा अपना और शरीरादि का स्वभाव है, वैसा जानकर भ्रम छोड़ना, शरीरादि को भला जानकर राग न करना और बुरा जानकर द्वेष न करना ह्न ऐसी सच्ची उदासीनता के हेतु नित्य ज्ञानानन्दमय निजात्मतत्त्व के लक्ष से अनित्यत्व आदि का यथार्थ चिन्तवन करना। उसमें जितनी वीतरागता की वृद्धि होती है, उतने अंश में संवर-निर्जरा है और राग रहे वह बन्ध का कारण है। यह अनुप्रेक्षा सम्यग्दृष्टि के ही होती है। (मोक्षशास्त्र, अध्याय ६, सूत्र ७)

अनुभाग बन्ध ह्न ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्मों के तीव्र-मन्द रसविशेष को अनुभाग बन्ध कहते हैं।

अभ्यन्तरक्रियारोध ह्न शुद्धात्म अनुभव के बल द्वारा स्थिरतानुसार शुभ-अशुभ मन के विकल्परूप क्रिया के व्यापार का रोध होना।

अमनस्क ह्न मन रहित जीव, असंज्ञी। जो हित में वर्तने की अथवा अहित से दूर रहने की शिक्षा ग्रहण करता है, वह संज्ञी है और जो हित-अहित की शिक्षा, क्रिया आदि को ग्रहण नहीं करते वे असंज्ञी होते हैं। एकेन्द्रिय से चार इन्द्रिय तक के जीव असंज्ञी ही होते हैं। पंचेन्द्रिय तिर्यंच संज्ञी और असंज्ञी दोनों प्रकार के होते हैं। शेष मनुष्य, देव और नारकी जीव संज्ञी ही होते हैं। (केवली को अमनस्क कहा जाता है, वह अन्य प्रकार से है।)

अमूर्तिक ह्न (अरूपी) जिसमें स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण (रंग) न हो।

अरहन्त परमेष्ठी ह्न भाव और द्रव्यरूप ज्ञानावरणादि चार घाति कर्मों का नाश करके, अनन्त ज्ञानादि चतुष्टय अथवा नव केवललब्धि को धारण करने वाले, क्षुधादि अठारह दोष रहित श्री जिनेन्द्र भगवान अरिहन्त परमात्मा हैं, जो देहसहित होने से सकल परमात्मा कहे जाते हैं।

अलोकाकाश ह्न जिसमें जीवादि पाँच द्रव्य सदा विद्यमान हैं, वह लोकाकाश है ओर जिसमें जीवादि पाँच द्रव्य नहीं हैं, जो केवल आकाश द्रव्य है, ऐसे आकाश के भाग को अलोकाकाश कहते हैं। लोकाकाश के क्षेत्र से वह सब ओर अनन्तगुने क्षेत्ररूप है।

अवधिदर्शन ह्न अवधिज्ञान से पूर्व होने वाला सामान्य प्रतिभास अथवा अवलोकन।

अविपाक निर्जरा ह्न आत्मा के शुद्ध भाव द्वारा स्थिति पूर्ण होने से पूर्व कर्मों का खिरना।

अस्तिकाय ह्न जिनके अस्तित्व और काय (बहुप्रदेशी) पना है, ऐसे द्रव्य। (उनके नाम हैं ह्न जीव, पुद्‌गल, धर्म, अधर्म और आकाश।)

आकाश ह्न जीव, पुद्‌गलादि समस्त द्रव्यों को अवकाश देने वाला द्रव्य जो अनन्त प्रदेशी, अखण्ड और क्षेत्र से सर्वव्यापक है, वह अजीव (अचेतन) आकाश द्रव्य है।

आचार्य परमेष्ठी ह्न जो निश्चय सम्यग्दर्शनादि सहित हैं, उपरान्त विरागी बनकर, समस्त परिग्रह छोड़कर, शुद्धोपयोगरूप मुनिधर्म अंगीकार करके अन्तरंग में तो वे शुद्धोपयोग द्वारा स्वयं अपना अनुभव करते हैं, परद्रव्य में अहंबुद्धि धारण नहीं करते, अपने ज्ञानादि स्वभावों को ही अपना मानते हैं, परभावों में ममत्व नहीं करते, किसी को इष्ट-अनिष्ट मानकर उसमें राग-द्वेष नहीं करते, हिंसादिरूप अशुभ उपयोग का तो अस्तित्व ही जिनके नहीं रहा है ह्न ऐसी अन्तरंग दशा होने से बाह्य दिगम्बर सौम्य मुद्राधारी हुए हैं। अट्ठाईस मूलगुणों का जो अखण्डित पालन करते हैं। उत्तम क्षमादि दस धर्म, बारह प्रकार के तप, दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार ह्न यह पाँच आचार, छह आवश्यक (सामायिक, चौबीस तीर्थंकर अथवा पंच परमेष्ठी की स्तुति,

https://AtmaDharma.com & https://AtmaDharma.org

वंदना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग), तीन गुप्ति (मन, वचन, काय गुप्ति) इस प्रकार छत्तीस गुणों का स्वयं पालन करते हैं और अन्य शिष्यों को पालन कराते हैं, वे आचार्य हैं, जो मुनि संघ के अधिपति होते हैं।

आतप ह्न सूर्य और सूर्यकान्तमणि में रहनेवाला विशेष गुण।

आयुकर्म ह्न जिसके निमित्त से अपनी स्थिति तक प्राप्त हुआ शरीर का सम्बन्ध (जीव के) छूट नहीं सकता, उस कर्म को आयुकर्म कहा जाता है। आयु चार प्रकार की है ह्न देव, मनुष्य, तिर्यंच और नारक।

आस्रव ह्न आत्मा की मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय तथा योगरूप मलिन अवस्था भावास्रव है और ज्ञानावरणादि आठ कर्मरूप होनेयोग्य कार्मणवर्गणा का आना द्रव्यास्रव है।

इन्द्रिय ह्न आत्मा के अस्तित्व को बतलाने वाली और परोक्ष ज्ञान की उत्पत्ति में निमित्त।

उत्पाद ह्न द्रव्य में नवीन पर्याय का प्रगट होना।

उद्योत ह्न चन्द्र, चन्द्रकान्तमणि और खद्योत (जुगनू) आदि का प्रकाश।

उपयोग ह्न ज्ञान और दर्शनगुण का व्यापार अथवा चारित्र की अपेक्षा से शुभ-अशुभ और शुद्ध ऐसे आचरण के अर्थ में चारित्रगुण की क्रिया को उपयोग कहा जाता है।

उपाध्याय परमेष्ठी ह्न उपाध्याय परमेष्ठी भी मुनि के अट्ठाईस मूलगुण तथा निश्चय सम्यग्दर्शनादि सहित हैं, बाह्य में सौम्यमुद्राधारी होते हैं। ऐसे उपाध्याय पच्चीस गुण ह्न ग्यारह अंग, चौदह पूर्व को स्वयं पढ़ते हैं और निकट रहने वाले मुनियों को शास्त्रों का अभ्यास कराते हैं। (वे मुनियों में शिक्षक-अध्यापक होते हैं।)

ओम् (ॐ) ह्न इसके अनेक अर्थ होते हैं। उनमें १. भावरूप ॐ शुद्धात्मा है और उसका वाचक शब्द ''जिनेश्वर की दिव्यवाणी'' है। २. अरिहन्त आदि पाँच परमेष्ठी के प्रथम अक्षरों से बना हुआ शब्द, जिससे पाँच परमेष्ठी का लक्ष हो सकता है।

कर्ता ह्न १) शुद्ध निश्चय नय से रागादि रहित अपने शुद्ध परिणाम का अर्थात् शुद्ध स्वभाव का कर्ता।

२) अशुद्ध निश्चय अशुद्ध नय से रागादि अशुद्ध चेतन भावों का कर्ता।

३) व्यवहारनय से ज्ञानावरणादि पुद्गल कर्मों का बन्ध करनेवाला।

कषाय ह्न जिससे (कष् = संसार रूप, दुःख, आय = लाभ) संसार की वृद्धि हो, आत्मा के कलुषित परिणाम, जैसे कि मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ अथवा मोह, राग, द्वेषादि।

काय ह्न अनेक प्रदेशों का समूह।

काल द्रव्य ह्न अपनी-अपनी अवस्थारूप से स्वयं परिणमित जीवादि द्रव्यों को परिणमन में निमित्तरूप से जो द्रव्य है, उसे काल द्रव्य कहते हैं। जैसे ह्न कुम्हार के चाक के घूमने में लोहे की कीली।

केवलदर्शन ह्न केवलज्ञान के साथ होने वाले सामान्य अवलोकन को केवलदर्शन कहते हैं।

केवलज्ञान ह्न जो तीन लोक और तीन कालवर्ती समस्त पदार्थों को एक साथ एक समय मात्र में स्पष्ट जाने ऐसा सम्पूर्ण प्रत्यक्ष ज्ञान।

केवलिनाथ ह्न केवलज्ञानादि अनन्त चतुष्टय के धारक केवली भगवान।

गुणस्थान ह्न मोह-योग के सद्भाव या असद्भाव से आत्मा के दर्शन (श्रद्धा), चारित्र और योग आदि की होने वाली अवस्थाओं को गुणस्थान कहते हैं।

https://AtmaDharma.com & https://AtmaDharma.org

गुप्ति ह्व मोह-राग-द्वेष के अभाव के कारण अखण्ड अद्वैत परम चिद्रूप में सम्यक् रूप से अवस्थित रहने पर मन, वचन, काय के ओर की प्रवृत्ति का रुक जाना सो गुप्ति है।

घातिकर्म ह्व आत्मा के ज्ञान, दर्शन, सुख (सम्यक्त्व, चारित्र) और वीर्यगुण के विभाव परिणमन में निमित्तरूप द्रव्यकर्म।

चक्षुदर्शन ह्व नेत्र के सम्बन्ध से होने वाले मतिज्ञान से पूर्व सामान्य प्रतिभास अथवा अवलोकन को चक्षुदर्शन कहते हैं।

चैतन्य ह्व जिसमें ज्ञान तथा दर्शन उपयोग विद्यमान हैं।

छद्मस्थ ह्व क्षायोपशमिक (मति, श्रुत, अवधि, मन:पर्यय) ज्ञानधारी संसारी जीव।

छाया ह्व धूप में मनुष्यादि की परछाई अथवा दर्पण में चेहरे का प्रतिबिम्ब।

जिन ह्व मिथ्यात्व और रागादिक को जीतने वाले (असंयत सम्यग्दृष्टि, श्रावक और मुनि को जिन कहा जा सकता है।)

जिनवर ह्व जो जिनों में श्रेष्ठ हों। श्री गणधर देव भी जिनवर कहलाते हैं।

जिनवर वृषभ ह्व जिनवरों में भी जो श्रेष्ठ होते हैं। वे प्रत्येक तीर्थंकर भगवान ''जिनवर वृषभ'' (भाव अपेक्षा से) कहलाते हैं।

जीव ह्व जिसमें चेतना अर्थात् ज्ञान-दर्शन हो, वह जीव है।

जीवसमास ह्व जिन चौदह धर्मों के द्वारा अनेक प्रकार के जीव के भेद जाने जा सकें। (गाथा १२)

तप ह्व शुभाशुभ इच्छाओं को रोकना अर्थात् शुद्ध चैतन्यस्वरूप में विश्रान्ति; शुद्धरत्नत्रयरूप मुनिपना।

तम ह्व प्रकाश से विरुद्ध = अन्धकार।

त्रस ह्व त्रसनामकर्म के उदय से दो इन्द्रिय से पंचेन्द्रिय अवस्था को प्राप्त जीव।

दर्शन ह्व सामान्य रूप से निराकार प्रतिभास (अवलोकन) ह्व दर्शन चेतना।

दिशा ह्व पूर्व आदि दिशाएँ।

दुरभिनिवेश ह्व संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय (अनिर्धार)।

द्रव्य ह्व जो गुण-पर्याय सहित एवं सत्स्वरूप हो।

द्रव्यबन्ध ह्व कर्म और आत्मा के प्रदेशों का एक क्षेत्र में जो सम्बन्धविशेष।

द्रव्यमोक्ष ह्व आत्मा से ज्ञानावरणीयादि समस्त कर्मों का सम्बन्ध छूट जाना।

द्रव्यसंवर ह्व द्रव्य आस्रवों का रुकना।

द्रव्यास्रव ह्व आठ कर्मों के योग्य पुद्गलों का आना।

धर्म ह्व जो संसार के दु:खों से छुड़ाकर मोक्षरूपी उत्तम सुख की प्राप्ति कराए। सम्यक् रत्नत्रय (शुद्ध दर्शन, ज्ञान, चारित्र) उत्तम क्षमादि वीतराग भाव।

धर्मद्रव्य ह्व स्वयं गतिरूप परिणत जीव और पुद्गलों को गमन करते समय जो द्रव्य निमित्त है वह, जैसे ह्व मछली को पानी।

ध्यान ह्व सम्यग्ज्ञान द्वारा अपने आत्मा को आत्मा में एकाग्र करना।

ध्रौव्य ह्व प्रत्यभिज्ञान के कारणरूप द्रव्य की किसी एक अवस्था की नित्यता को ध्रौव्य कहते हैं।

नय ह्व श्रुतज्ञानप्रमाण का अंश, ज्ञाता का अभिप्राय।

निर्जरा ह्व बन्ध का एकदेश अभाव।

निश्चयनय ह्व भेद, पराश्रय को गौण करके पदार्थ को यथार्थ जाननेवाला श्रुतज्ञान का अंश।

निश्चयचारित्र ह्व निश्चय सम्यग्दर्शनपूर्वक स्वरूप में चरना। निजस्वभाव में वर्तन ह्व शुद्ध चैतन्य का प्रकाशन, ऐसा उसका अर्थ है। मोह-क्षोभरहित परिणाम, साम्य, धर्म और चारित्र (वीतरागभाव) यह सब एकार्थवाचक हैं। (प्रवचनसार गाथा ७ की टीका)

परमध्यान ह्व मन, वचन, काय के सन्मुख रुके हुए जीव के परिणाम को

https://AtmaDharma.com & https://AtmaDharma.org

अन्तर्मुख करके निजस्वरूप में स्थिर होना।

परमेष्ठी ह्न परम (उत्कृष्ट) पद में स्थित अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु दशा को प्राप्त आत्मा।

(नोट ह्न अरिहन्त और सिद्ध परमात्मत्व आत्मा की पूर्ण दशा, साध्यदशा और मोक्षतत्त्व है, तथा आचार्य, उपाध्याय और साधु परमेष्ठी आत्मा की अपूर्ण निर्मल दशा, साधक दशा (मोक्षमार्ग ह्न शुद्धरत्नत्रयरूप मुनिपद) और संवर-निर्जरा तत्त्व हैं। यह पाँचों परम पद आत्मा में से आत्मा के द्वारा आत्मा के आधार से प्राप्त होते हैं।)

परिषह ह्न कर्मों के क्षय हेतु, शुद्ध रत्नत्रयरूप, मोक्षमार्ग से न डिगने के लिए स्वरूप में स्थिर होकर (बाह्य अनुकूल या प्रतिकूल संयोगों की उपेक्षा द्वारा) राग-द्वेष उत्पन्न न होने देना अर्थात् सम्यक् प्रकार से स्वरूप में ज्ञाता-दृष्टा रूप से सावधान रहना सो इसका नाम परीषह अथवा परीषहजय है।

परोक्षज्ञान ह्न जिसमें पाँच इन्द्रियाँ और मन निमित्त हैं, ऐसा ज्ञान। मति और श्रुत यह दो परोक्षज्ञान हैं।

प्रत्यक्षज्ञान ह्न इन्द्रियों तथा मन के अवलम्बन के बिना आत्मा अपने स्पष्ट ज्ञान से एकदेश अथवा सम्पूर्ण रूप से प्रत्यक्ष जाने वह। उसके तीन भेद हैं ह्न अवधि, मन:पर्यय और केवलज्ञान।

परमाणु ह्न अति सूक्ष्म अणु, जिसका खण्ड न हो सके।

पर्याप्ति ह्न १. पूर्णता, २. पुद्गल परमाणुओं को आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छवास, भाषा और मनरूप होने में निमित्तरूप जीव की शक्ति की पूर्णता।

पाप ह्न जीव के अशुभभाव (पापभाव) और अशुभभावों से बँधा हुआ कर्म सो द्रव्यपाप है।

पुद्गलद्रव्य ह्न जिस द्रव्य में स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण हों, वह पुद्गल द्रव्य है।

प्रकृतिबन्ध ह्न ज्ञानावरणीयादिरूप पुद्गलकर्मों का स्वभाव।

प्रदेशबन्ध ह्न बंधे हुए कर्मपरमाणुओं का आत्मप्रदेशों के साथ विशिष्टरूप से ह्न एकक्षेत्रावगाह सम्बन्धरूप रहना। अथवा उन कर्मों के परमाणुओं की संख्या को प्रदेशबन्ध कहते हैं।

प्रमाद ह्न आत्मस्वरूप की असावधानी अथवा परवस्तु के प्रति उत्साह और शुभाशुभ भाव में वर्तन भी प्रमाद है।

बन्ध ह्न आत्मा और कर्मों के प्रदेशों का परस्पर एकक्षेत्रावगाहरूप सम्बन्धविशेष से रहना।

बाह्यक्रिया ह्न शुभ और अशुभ वचन तथा काय की क्रिया।

भावआस्रव ह्न आत्मा के जिस भाव से (मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योगरूप अशुद्ध परिणाम से) द्रव्य कर्मों का आना हो।

भावनिर्जरा ह्न आत्मा के जिन शुद्ध परिणामों से कर्मों की निर्जरा हो।

भावबन्ध ह्न आत्मा के राग-द्वेष-मोहभावरूप विभावपरिणामों की स्निग्धता से आत्मप्रदेशों के साथ द्रव्यकर्मों का सम्बन्ध विशेष हो, उस स्निग्ध परिणाम को भावबन्ध कहा जाता है।

भावसंवर ह्न आत्मा के शुद्ध परिणाम कि जिनसे द्रव्यकर्मों का आना नहीं होता।

भावमोक्ष ह्न मोक्ष के हेतुभूत परम संवररूप भाव सो भावमोक्ष है। (तेरहवें, चौदहवें गुणस्थान की दशा को भावमोक्ष कहते हैं।)

भोक्ता ह्न १) निश्चयनय से जीव अपने सहज स्वभावरूप शुद्ध भाव का भोक्ता है।

२) अशुद्ध निश्चयनय से अघाति कर्मों के उदय से जो भी संयोग

https://AtmaDharma.com & https://AtmaDharma.org

आ मिलने पर जीव सुख या दु:ख की वृत्ति का वेदन करता है, वह जीव अशुद्धभाव का भोक्ता है।

मतिज्ञान ह्न १) पराश्रय की बुद्धी छोड़कर दर्शन उपयोगपूर्वक स्वोन्मुखता से प्रगट होनेवाले निज आत्मा के ज्ञान को मतिज्ञान कहते हैं।

२) इन्द्रियाँ और मन जिसमें निमित्तमात्र हैं, ऐसे ज्ञान को मतिज्ञान कहते हैं।

मन:पर्ययज्ञान ह्न द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की मर्यादा से दूसरे के मन में स्थित रूपी पदार्थों को स्पष्ट जान लेना।

मिथ्यात्व ह्न तत्त्वों की विपरीत श्रद्धा करना, स्व-पर के एकत्व का अभिप्राय, राग से भला होना मानना।

मार्गणा ह्न गति-इन्द्रिय-काय आदि चौदह प्रकार के धर्म द्वारा अनेक प्रकार के जीव के भेद जाने जा सकें, अथवा जिसके द्वारा जीवसमूह की खोज हो सके।

मन्त्र ह्न पंचपरमेष्ठीवाचक नमस्कार मन्त्र अथवा ध्यान करने के लिए उस प्रकार के ॐ, ह्रीं आदि वचन।

रत्नत्रय ह्न सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ह्न मोक्षमार्ग।

लोकाकाश ह्न आकाश के जिस भाग में जीवादि द्रव्य स्थित हैं।

विकलत्रय ह्न दो इन्द्रिय, त्रीन्द्रिय तथा चतुरिन्द्रिय जीव।

विदिशा ह्न ईशान, नैऋत्य, वायव्य और अग्निकोण।

विभ्रम ह्न (विपर्यय, विपरीत) वस्तु के स्वरूप को विपरीत समझना।

विमोह ह्न (अनध्यवसाय, अनिर्धार) वस्तु के स्वरूप का कुछ भी निश्चित न करना।

व्यय ह्न द्रव्य की पूर्व पर्याय के त्याग को व्यय कहते हैं। [प्रत्येक द्रव्य में निरन्तर-प्रतिसमय नवीन पर्याय (अवस्था) की उत्पत्तिपूर्वक पर्याय का (अप्रगट होने रूप) व्यय होता रहता है।]

व्यवहारकाल ह्न समय, घड़ी, घंटा, मिनट आदि।

व्यवहारनय ह्न जो गुण-गुणी भेद, पराश्रय अथवा संयोग के लक्ष से कारण-कार्यादि के भेद बतलाए यह श्रुतज्ञान का अंश।

व्यवहार मोक्षमार्ग ह्न निश्चय मोक्षमार्गी जीव स्वरूप में एकाग्र न रह सके, तब श्री वीतराग सर्वज्ञदेव कथित छह द्रव्य, पाँच अस्तिकाय, सात तत्त्व, नव पदार्थों का भेदरूप श्रद्धान, ज्ञान और व्रतादिरूप आचरण सो व्यवहार मोक्षमार्ग है। (जो असद्भूत उपचरित व्यवहारनय का विषय है।)

शब्द ह्न श्रोत्रेन्द्रिय का विषय।

श्रुतज्ञान ह्न मतिज्ञान से जाने हुए पदार्थ के सम्बन्ध में अन्य पदार्थ को जानने वाले ज्ञान को श्रुतज्ञान कहते हैं। तथा आत्मा की शुद्ध अनुभूतिरूप श्रुतज्ञान को भावश्रुतज्ञान कहते हैं।

समनस्क ह्न संज्ञी ह्न मनसहित जीव, जो हित में प्रवर्तने की तथा अहित से दूर रहने की शिक्षा, क्रिया, उपदेशादि को ग्रहण करता है।

समिति ह्न १) निश्चय से अनन्त ज्ञानादि स्वभावधारक निज आत्मा में सम्यक् प्रकार से समस्त रागादि विभाव के त्यागपूर्वक आत्मा में लीन होना, आत्मा का चिन्तन करना, तन्मय होना आदि रूप जो अयन-गमन-परिणमन सो समिति है।

२) व्यवहार से आचारग्रन्थकथित ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपण और उत्सर्ग ह्न यह पाँच समितियाँ हैं।

समुद्घात ह्न मूल शरीर को छोड़े बिना आत्मा के प्रदेशों का विस्ताररूप से बाहर निकलना।

सम्यग्ज्ञान ह्न संशयादि रहित स्व-पर के निश्चयवाला ज्ञान।

सर्वज्ञ ह्न तीन लोक, अलोक और त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थों को एक साथ एक समय में स्पष्ट ह्न प्रत्यक्ष जानने वाले।

https://AtmaDharma.com & https://AtmaDharma.org

साधु परमेष्ठी ह्न जो निश्चय सम्यग्दर्शनादि सहित हैं। विरागी बनकर, समस्त परिग्रह छोड़कर, शुद्धोपयोगरूप मुनिधर्म अंगीकार करके अन्तरंग में उस शुद्धोपयोग द्वारा स्वयं अपना अनुभव करते हैं, परद्रव्य में अहंबुद्धि धारण नहीं करते, अपने ज्ञानादि स्वभावों को ही अपना मानते हैं, पर भावों में ममत्व नहीं करते, किसी पदार्थ को इष्ट-अनिष्ट मानकर राग-द्वेष नहीं करते, हिंसादिरूप अशुभोपयोग का तो अस्तित्व ही जिनके नहीं रहा, ऐसी अन्तरंग दशा होने पर बाह्य दिगम्बर सौम्य मुद्राधारी हुए हैं। अट्ठाईस मूलगुणों का अखंडित पालन करते हैं। सर्व मुनियों (साधु-श्रमणों) के अट्ठाईस मूलगुण होते हैं, उनके नाम ह्न

५ महाव्रत ह्न हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म, परिग्रह से विरति।

५ समिति ह्न ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपण, प्रतिष्ठापन।

५ इन्द्रियनिरोध ह्न पाँच इन्द्रियों के विषय में इष्ट-अनिष्टपना न होना।

६ आवश्यक ह्न सामायिक, २४ तीर्थंकर अथवा पंचपरमेष्ठी की स्तुति, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग।

२२. केशलोंच, २३. नग्नता अर्थात् वस्त्ररहित दिगम्बरत्व, २४. अस्नानता, २५. भूमिशयन, २६. दतौन न करना, २७. खड़े-खड़े भोजन, २८. दिन में एक बार आहार-जल।

(आचार्य, उपाध्याय और साधु ह्न यह तीनों निश्चयरत्नत्रय अर्थात् शुद्धोपयोगरूप (मुनिधर्मरूप) जो आत्मस्वरूप का साधन उसके द्वारा अपने आत्मा में सदा तत्पर (सावधान-जागृत) रहते हैं। बाह्य में अट्ठाईस मूलगुणों के धारक होते हैं और उनके पास दया का उपकरण पींछी और शौच का उपकरण कमण्डलु तथा ज्ञान का उपकरण सुशास्त्र होते हैं। वे शास्त्रकथित ४६ दोष, ३२ अन्तराय, १४ मल दोष से रहित शुद्ध आहार लेते हैं और वही मोक्षमार्ग के

साधक सच्चे साधु हैं तथा वही गुरु कहलाते हैं। श्री अरिहन्त व सिद्ध भगवान देव हैं और आचार्य, उपाध्याय तथा साधु गुरु हैं।)

सिद्ध परमेष्ठी ह्न ज्ञानावरणादि आठ कर्मों का नाश करके सिद्धालय में (लोकाग्र में) स्थित, सम्यक्त्वादि गुणों के धारक शुद्ध उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यसहित हैं और पुनरागमन रहित हैं।

सूक्ष्म स्कंध ह्न जो दूसरों से बाधा को प्राप्त न हों और दूसरों को बाधा न पहुँचायें, दूसरों से रुकें नहीं तथा दूसरों को रोके नहीं।

सूक्ष्म एकेन्द्रिय ह्न सूक्ष्म अर्थात् नामकर्म के उदय से प्राप्त सूक्ष्म शरीरी जीव, जिसके मात्र एक स्पर्शन् इन्द्रिय होती है।

संस्थान ह्न त्रिकोण, चतुष्कोण आदि आकार।

संशय ह्न निश्चय रहित अनेक विकल्पों को ग्रहण करने वाला कुज्ञान।

संसारी ह्न मनुष्य, देव, तिर्यंच (पशु) और नारकी इन चार गतियों वाले जीव।

स्थावर ह्न पृथ्वीकायिक, जल, अग्नि, वायु और वनस्पतिकायिक जीव को स्थावर अथवा एकेन्द्रिय कहते हैं। स्थावर नामकर्म के उदय के कारण उन्हें स्थावर कहा जाता है।

स्वदेहपरिमाण ह्न समुद्घात अवस्था को छोड़कर नामकर्म के उदय से प्राप्त हुए अपने छोटे-बड़े शरीर प्रमाण रहना।

स्थूल ह्न तिल, बेर आदि एक दूसरे से छोटे-बड़े हैं। वे अपेक्षित स्थूल हैं और जो संयोगमात्र रूप दूसरे से बाधा को प्राप्त हों, रुकें तथा दूसरे को बाधा पहुँचाएँ, रोकें वे वास्तव में स्थूल हैं और उनसे जो विपरीत हैं, वे वास्तव में सूक्ष्म हैं।

शास्त्र ह्न जिनमें अनेकान्तरूप सच्चे जीवादि तत्त्वों का निरूपण है तथा जो सच्चा रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग बतलाते हैं, वे जैन शास्त्र हैं। (मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ २२८)

✵✵✵

https://AtmaDharma.com & https://AtmaDharma.org

भेदसंग्रह

अजीव ह्न ५. पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल।

अधिकार ह्न ९. जीवत्व, उपयोगमय, अमूर्ति, कर्ता, स्वदेहपरिमाण, भोक्ता, संसारस्थ, सिद्ध, विस्रसा, ऊर्ध्वगमन।

अनुप्रेक्षा ह्न १२. अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ, धर्म।

अनंत चतुष्टय ह्न ४. अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख, अनन्तवीर्य।

अष्ट गुण ह्न ८. सम्यक्त्व, केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्तवीर्य, सूक्ष्मत्व, अवगाहनत्व, अगुरुलघुत्व, अव्याबाधत्व।

अस्तिकाय ह्न ५. जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश।

आस्रव ह्न २. द्रव्य, भाव।

आस्रव ह्न ३२. मिथ्यात्व ५, अविरति ५, प्रमाद १५, योग ३, कषाय ४।

आचार ह्न ५. दर्शन, ज्ञान, वीर्य, चारित्र, तप।

इन्द्र ह्न १००. भवनवासी ४०, व्यन्तर ३२, कल्पवासी २४, ज्योतिषी २ (सूर्य, चन्द्रमा), चक्रवर्ती १, सिंह १।

इन्द्रियाँ ह्न ५. स्पर्शन्, रसना, घ्राण, चक्षु, कर्ण (श्रोत्र)।

उपयोग ह्न २. ज्ञान, दर्शन।

उपयोग ह्न १२. ज्ञान ८, दर्शन ४।

एकेन्द्रिय ह्न २. सूक्ष्म, बादर (स्थूल)।

एकेन्द्रिय ह्न ५. पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पतिकायिक ह्न इन्हें स्थावर कहा जाता है।

कर्म ह्न २. पुण्य, पाप।

कर्म ह्न २. घातिया, अघातिया।

कर्म ह्न ८. ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र, अन्तराय।

काल ह्न २. निश्चयकाल, व्यवहारकाल।

क्रिया ह्न २. अन्तरंग, बाह्य।

गन्ध ह्न २. सुगन्ध, दुर्गन्ध।

गुणस्थान ह्न १४. मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, अविरत सम्यक्त्व, देशसंयत, प्रमत्त, अप्रमत्त, अध:करण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, उपशान्तमोह, क्षीणमोह, सयोगकेवली, अयोगकेवली।

गुप्ति ह्न ३. मन, वचन, काय।

चारित्र ह्न २. बाह्य, अन्तरंग।

चारित्र ह्न ५. सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय, यथाख्यात।

छद्मस्थ ह्न ४. मति, श्रुत, अवधि, मन:पर्ययज्ञान के धारक।

जीव ह्न २. संसारी, मुक्त।

जीवसमास ह्न १४. एकेन्द्रिय सूक्ष्म, एकेन्द्रिय बादर, दो इन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, संज्ञी पंचेन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय ह्न इन सात भेदों को पर्याप्त और अपर्याप्त लगाने से चौदह भेद होते हैं।

तप ह्न १२. बाह्य ६, आभ्यन्तर ६।

त्रसजीव ह्न ४. द्वीन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय।

द्रव्य ह्न २. जीव, अजीव।

द्रव्य ह्न ६. जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल।

https://AtmaDharma.com & https://AtmaDharma.org

दिशा ह्न १०. पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ईशान, वायव्य, आग्नेय, नैऋत्य, ऊर्ध्व, अध:।

धर्म ह्न १०. उत्तमक्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य, ब्रह्मचर्य।

निर्जरा ह्न २. द्रव्य, भाव।

नोकर्म (शरीर) ह्न ५. औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस, कार्मण शरीर।

पंचेन्द्रिय ह्न २. संज्ञी, असंज्ञी।

पर्याप्ति ह्न ६. आहार, शरीर, इन्द्रिय, भाषा, श्वासोच्छ्वास, मन।

परीषह ह्न २२. क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमशक, नग्नता, अरति, स्त्री, चर्चा, शय्या, आसन, वध, आक्रोश, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, सत्कारपुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान, अदर्शन।

पुद्गलकर्म ह्न ज्ञानावरणादि।

पुद्गलगुण ह्न २०. स्पर्श ८, रस ५, रूप ५, गंध २।

पापकर्म ह्न ८. असाता वेदनीय, अशुभ आयु, अशुभ नामकर्म, नीच गोत्र और चार घातिया कर्म ज्ञानावरणादि।

पुण्यकर्म ह्न ४. साता वेदनीय, शुभ आयु, शुभ नामकर्म, उच्चगोत्र।

प्राण ह्न १०. इन्द्रिय ५, बल ३, आयु, श्वासोच्छ्वास।

बन्ध ह्न ४. प्रकृति, स्थिति, अनुभाग, प्रदेश।

भावास्रव ह्न ५. मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, योग।

भावास्रव ह्न ३२. मिथ्यात्व ५, अविरति ५, प्रमाद १५, योग ३, कषाय ४।

भावनिर्जरा ह्न २. सविपाक, अविपाक।

महाव्रत ह्न ५. अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह।

मार्गणा ह्न १४. गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञित्व और आहारत्व।

मिथ्यात्व ह्न ५. विपरीत, एकान्त, विनय, संशय, अज्ञान।

मुनिचारित्र ह्न १३. व्रत ५, समिति ५, गुप्ति ३।

मोक्ष ह्न २. द्रव्य, भाव।

मोक्षमार्ग ह्न २. व्यवहार, निश्चय। (निरूपण अपेक्षा से)

योग ह्न ३. मन, वचन, काया के अवलम्बन से आत्मप्रदेशों में योगगुण की अशुद्ध पर्याय, उसका चंचलतारूप कंपन और कर्मग्रहणरूप विकार को योग कहते हैं। सामान्य रूप से वह योग एक प्रकार का है, किन्तु निमित्त के अवलम्बन की अपेक्षा से मन, वचन, काय के सम्बन्ध से उसके तीन अथवा पन्द्रह भेद हैं।

रत्नत्रय ह्न ३. सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र।

विदिशा ह्न ४. ईशान, नैऋत्य, वायव्य, आग्नेय।

व्रत ह्न ५. अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह।

विकलत्रय ह्न ३. द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय।

संवर ह्न २. द्रव्य, भाव।

संवर ह्न ७. व्रत, समिति, गुप्ति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय, चारित्र।

संवर ह्न व्रत ५, समिति ५, गुप्ति ३, धर्म १०, परीषह २२, चारित्र ५।

समुद्घात ह्न ७. वेदना, कषाय, विक्रिया, मारणान्तिक, तैजस, आहार, केवल।

समिति ह्न ५. ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपण, व्युत्सर्ग।

ज्ञानोपयोग ह्न २. ज्ञान, अज्ञान।

ज्ञानोपयोग ह्न ८. मति, श्रुत, अवधि, मन:पर्यय, केवल और कुमति, कुश्रुत, कुअवधि (विभंग)।

✺✺✺

https://AtmaDharma.com & https://AtmaDharma.org

लघु द्रव्यसंग्रह

छद्दव्व पंचअत्थी सत्तवि तच्चाणि णव पयत्था य।
भंगुप्पाय–धुवत्ता णिद्दिट्ठा जेण सो जिणो जयउ।।१।।

अर्थ ह्न जिन्होंने छह द्रव्य, पाँच अस्तिकाय, सात तत्त्व, नौ पदार्थ तथा उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य का निर्देश (वर्णन) किया है, वे श्री जिनेन्द्र देव जयवन्त रहें।।१।।

जीवो पुग्गल धम्माऽधम्मागासो तहेव कालो य।
दव्वाणि कालरहिया पदेसबाहुल्लदो अत्थिकाया य।।२।।

अर्थ ह्न जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्य हैं। काल को छोड़कर शेष पाँच द्रव्य बहुप्रदेशी होने से अस्तिकाय हैं।।२।।

जीवाजीवासवबंधसंवरो णिज्जरा तहा मोक्खो।
तच्चाणि सत्त एदे सपुण्ण–पावा पयत्था य।।३।।

अर्थ ह्न जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा तथा मोक्ष ह्न ये सात तत्त्व हैं। यह (सात तत्त्व) पुण्य–पाप सहित नौ पदार्थ हैं।।३।।

जीवो होइ अमुत्तो सदेहमित्तो सचेयणा कत्ता।
भोत्ता सो पुण दुविहो सिद्धो संसारिओ णाणा।।४।।

अर्थ ह्न जीव (द्रव्य) अमूर्तिक, स्वदेह प्रमाण, चेतना सहित, कर्ता और भोक्ता है। वह जीव दो प्रकार के हैं ह्न सिद्ध और संसारी। संसारी जीव अनेक प्रकार के हैं।।४।।

***अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेयणागुणसमद्दं।**
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठ–सट्ठाणं।।५।।

* समयसार गाथा ४९, पंचास्तिकाय गाथा १२७, प्रवचनसार गाथा १७२, नियमसार गाथा ४९, भावपाहुड़ गाथा ६४, धवला टीका पुस्तक ३, पृष्ठ २

अर्थ ह्न जो अरस, अरूप, अगंध, अव्यक्त, अशब्द तथा अनिर्दिष्ट संस्थान है (जिसके कोई संस्थान नहीं है), चेतना गुण वाला है और इन्द्रियों के द्वारा अग्राह्य है, उसे जीव जाणो।।५।।

वण्ण–रस–गंध–फासा विज्जंते जस्स जिणवरुद्दिट्ठा।
मुत्तो पुग्गलकाओ पुढवी पहुदी हु सो सोढा।।६।।

अर्थ ह्न जिसके वर्ण, रस, गंध तथा स्पर्श विद्यमान हैं, वह मूर्तिक पुद्गलकाय, पृथ्वी आदि छह प्रकार का श्री जिनेन्द्र देव के द्वारा कहा गया है।।६।।

पुढवी जलं च छाया चउरिंदियविसय कम्म परमाणू।
छव्विह भेयं भणियं पुग्गलदव्वं जिणिंदेहिं।।७।।

अर्थ ह्न पृथ्वी, जल और छाया, (नेत्रेन्द्रिय को छोड़कर शेष) चार इन्द्रियों के विषय (वायु शब्दादि)ह्नकर्मवर्गणा और परमाणु ह्न ऐसे पुद्गल द्रव्य के छह प्रकार श्री जिनेन्द्रदेव ने कहे हैं।।७।।

गइपरिणयाण धम्मो पुग्गलजीवाणगमण–सहयारी।
तोयं जह मच्छाणं अच्छंता णेव सो णेई।।८।।[१]

अर्थ ह्न गमन से परिणत पुद्गल और जीवों को गमन में सहकारी धर्मद्रव्य है, जिसप्रकार मछलियों को (गमन में) जल सहकारी है। (किन्तु) गमन न करने वालों को (स्थिर रहे हुए पुद्गल तथा जीवों को) वह (धर्मद्रव्य) गमन नहीं कराता।।८।।

ठाणजुयाण अधम्मो पुग्गलजीवाण ठाण–सहयारी।
छाया जह पहियाणं गच्छंता णेव सो धरई।।९।।[२]

अर्थ ह्न (गतिपूर्वक) स्थित रहे हुए पुद्गल और जीवों को स्थिर रहने में सहकारी अधर्मद्रव्य है, जिस प्रकार छाया यात्री को स्थिर रहने में सहकारी है।

१. बृहद् द्रव्यसंग्रह गाथा १७
२. बृहद् द्रव्यसंग्रह गाथा १८

https://AtmaDharma.com & https://AtmaDharma.org

(किन्तु) गमन करते हुओं को (जीव-पुद्‌गलों को) वह (अधर्मद्रव्य) स्थिर नहीं करता है ।।९।।

अवगासदाणजोग्गं जीवादीणं वियाण आयासं ।
जेण्हं लोगागासं अलोगागासमिदि दुविहं ।।१०।।[1]

अर्थ ह्व जो जीवादि द्रव्यों को अवकाश देने में योग्य है, उसे श्री जिनेन्द्रदेव द्वारा कहा गया आकाश द्रव्य जानो। उसके दो भेद हैं ह्व लोकाकाश और अलोकाकाश ।।१०।।

दव्वपरियट्टजादो जो सो कालो हवेइ ववहारो ।
लोगागासपएसो एक्केक्काणु य परमट्ठो ।।११।।[2]

अर्थ ह्व जो द्रव्यों के परिवर्तन से उत्पन्न होनेवाले हैं, वे व्यवहार काल हैं। लोकाकाश में प्रदेशरूप से स्थित एक-एक कालाणु निश्चय काल है ।।११।।

लोयायासपदेशे एक्केक्के जे ट्ठिया हु एक्केक्का ।
रयणाणं रासीमिव ते कालाणू असंखदव्वाणि ।।१२।।[3]

अर्थ ह्व जो लोकाकाश के एक-एक प्रदेश में रत्नराशि की भाँति (परस्पर भिन्न-भिन्न) एक-एक स्थित हैं, वे कालाणु असंख्य द्रव्य हैं ।।१२।।

संखातीदा जीवो धम्माऽधम्मे अणंत आयासे ।
संखादासंखादा मुत्ति पदेसाउ संति णो काले ।।१३।।[4]

अर्थ ह्व एक जीव के, धर्म तथा अधर्म द्रव्य के असंख्यात (प्रदेश) हैं, आकाश के अनन्त (प्रदेश) हैं, पुद्‌गल के संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेश हैं, काल में (प्रदेश) नहीं हैं। (अर्थात् कालाणु द्रव्य प्रत्येक एकप्रदेशी ही है। उसमें शक्ति अथवा व्यक्ति की अपेक्षा से बहुप्रदेशीपना नहीं है) ।।१३।।

जावदीयं आयासं अविभागीपुग्गलाणुवट्टद्धं ।
तं खु पदेसं जाणे सव्वाणुट्ठाणदाणरिहं ।।१४।।[5]

अर्थ ह्व अविभागी पुद्‌गलाणु से आकाश का (छोटे से छोटा) जितना

१. बृहद् द्रव्यसंग्रह गाथा १९
२. बृहद् द्रव्यसंग्रह गाथा २१, कुछ अन्तर सहित।
३. बृहद् द्रव्यसंग्रह गाथा २२
४. बृहद् द्रव्यसंग्रह गाथा २५ का रूपान्तर।
५. बृहद् द्रव्यसंग्रह गाथा २७

भाग रुकता है, उसे प्रदेश जानो। वह (प्रदेश) सर्व (पुद्‌गल) परमाणुओं को स्थान देने में समर्थ है ।।१४।।

जीवो णाणी पुग्गल-धम्माऽधम्मायासा तहेव कालो य ।
अज्जीवा जिणभणिओ ण हु मण्णइ जो हु सो मिच्छो ।।१५।।

अर्थ ह्व जीव ज्ञानयुक्त हैं, पुद्‌गल, धर्म, अधर्म, आकाश तथा काल अजीव हैं ह्व ऐसा श्री जिनेन्द्रदेव ने वर्णन किया है। ऐसा जो नहीं मानते, वे मिथ्यादृष्टि हैं ।।१५।।

मिच्छत्तं हिंसाई कसाय जोगा य आसवो बंधो ।
सकसाई जं जीवो परिगिण्हइ पोग्गलं विविहं ।।१६।।

अर्थ ह्व मिथ्यात्व, हिंसादि (अव्रत), कषाय और योगों से आस्रव होता है, कषाय सहित जीव अनेक प्रकार के पुद्‌गलों का जो परिग्रहण करता है, सो बन्ध है ।।१६।।

मिच्छत्ताई चाओ संवर जिण भणइ णिज्जरादेसे ।
कम्माण खओ सो पुण अहिलसिओ अणहिलसिओ य ।।१७।।

अर्थ ह्व श्री जिनेन्द्रदेव ने मिथ्यात्वादि के त्याग को संवर कहा है। कर्मों का एकदेश क्षय निर्जरा है। और वह निर्जरा अभिलाषा सहित (सकाम और अविपाक) तथा अभिलाषा रहित (अकाम और सविपाक) ह्व ऐसे दो प्रकार की है ।।१७।।

कम्मबंधण-बद्धस्स सब्भूदस्संतरप्पणो ।
सव्वकम्म-विणिमुक्को मोक्खो होइ जिणेडिदो ।।१८।।

अर्थ ह्व कर्मों के बन्धन से बँधे हुए सद्‌भूत (प्रशस्त) अन्तरात्मा को जो सर्व कर्मों से पूर्णरूप से मुक्त होना (छूटना) सो मोक्ष है ह्व ऐसा श्री जिनेन्द्रदेव ने वर्णन किया है ।।१८।।

सादाऽउ-णामगोदाणं पयडीआ सुहो हवे ।
पुण्णं तित्थयरादी अण्णं पावं तु आगमे ।।१९।।

अर्थ ह्व सातावेदनीय, शुभआयु, शुभनाम, शुभगोत्र तथा तीर्थंकर आदि पुण्य-प्रकृति हैं, अन्य शेष पाप-प्रकृति हैं ह्व ऐसा परमागम में कहा है ।।१९।।

https://AtmaDharma.com & https://AtmaDharma.org

णासइ णर-पज्जाओ उप्पज्जइ देवपज्जओ तत्थ।
जीवो स एव सव्वस्स भंगुप्पाया धुवा एवं ।।२०।।

अर्थ ह्न मनुष्य पर्याय नष्ट होती है, देवपर्याय उत्पन्न होती है तथा जीव वही का वही रहता है। इस प्रकार सर्व द्रव्यों के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य होते हैं ।।२०।।

उप्पादप्पद्धंसा वत्थूणं होंति पज्जय-णएण (णयण)।
दव्वट्ठिएण णिच्चा बोधव्वा सव्वजिणबुत्ता ।।२१।।

अर्थ ह्न वस्तु में उत्पाद तथा व्यय पर्यायनय से होते हैं, द्रव्यदृष्टि से (वस्तु) नित्य (ध्रौव्य) जानना चाहिए ह्न ऐसा श्री सर्वज्ञ जिनेन्द्र द्वारा कहा गया है ।।२१।।

एवं अहिगयसुत्तो सट्ठाणजुदो मणो णिरुंभित्ता।
छंडउ रायं रोसं जइ इच्छइ कम्मणा णास (णासं) ।।२२।।

अर्थ ह्न यदि कर्मों का नाश करना चाहते हो तो इस प्रकार सूत्र से अभिगत होकर (परमागम के ज्ञाता होकर) काय को निश्चल करके तथा मन को स्थिर करके राग और द्वेष को छोड़ो ।।२२।।

विसएसु पवट्टंतं चित्तं धारेत्तु अप्पणो अप्पा।
झायइ अप्पाणेणं जो सो पावेइ खलु सेयं ।।२३।।

अर्थ ह्न जो आत्मा विषयों में लगे हुए मन को रोककर अपने आत्मा को अपने द्वारा ध्याता है, वह आत्मा वास्तविक श्रेय को प्राप्त होता है ।।२३।।

सम्मं जोवादीया णच्चा सम्मं सुकित्तिदा जेहिं।
मोहगयकेसरीणं णमो णमो ठाण साहूणं ।।२४।।

अर्थ ह्न जीवादि को सम्यक् प्रकार से जानकर जिन्होंने उन जीवादि का भली भाँति सम्यक् प्रकार से वर्णन किया है, जो मोहरूपी हाथी के लिए सिंह समान हैं, उन साधुओं को (हमारा) नमस्कार हो, नमस्कार हो ।।२४।।

सोमच्छलेण रइया पयत्थ-लक्खणकराउ गाहाओ।
भव्वुवयारणिमित्तं गणिणा सिरिणेमिचंदेण ।।२५।।

अर्थ ह्न श्री सोमश्रेष्ठि के निमित्त से भव्य जीवों के उपकार हेतु श्री नेमिचंद्र आचार्य द्वारा पदार्थों के लक्षण कहनेवाली गाथाओं की रचना की गई है ।।२५।।

✷✷✷